आचार्य विश्वनाथ और साहित्य दर्पण

एक प्रामाणिक पुस्तक

आचार्य विश्वनाथ और साहित्य-दर्पण

आचार्य विश्वनाथ
और
साहित्य-दर्पण

(आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक
डॉ राजकिशोर सिंह



प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007
फोन : 31858

[एक प्रामाणिक पुस्तक]

प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007
फोन : 31858
मूल्य : सोलह रुपये पचास पैसे (16.50) मात्र

समर्पण

बन्धुवार

डॉ० राधेश्याम गुप्त

को

सस्नेह

प्रस्तावना

संस्कृत काव्य-शास्त्र की अपनी एक प्रौढ़ एवं सुदीर्घ परम्परा है, उसमें कविराज विश्वनाथ अपने साहित्य-दर्पण के लिए प्रसिद्ध हैं। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण भी अपनी विशेषताओं के कारण लोकप्रिय है। इस महत्व-पूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ की एक विशेषता इसकी पूर्णता है क्योंकि इसमें काव्य-शास्त्र एवं नाट्यशास्त्र की महत्वपूर्ण मान्यताओं का एक जगह समाहार किया गया है। दूसरी विशेषता इसकी सरलता है।

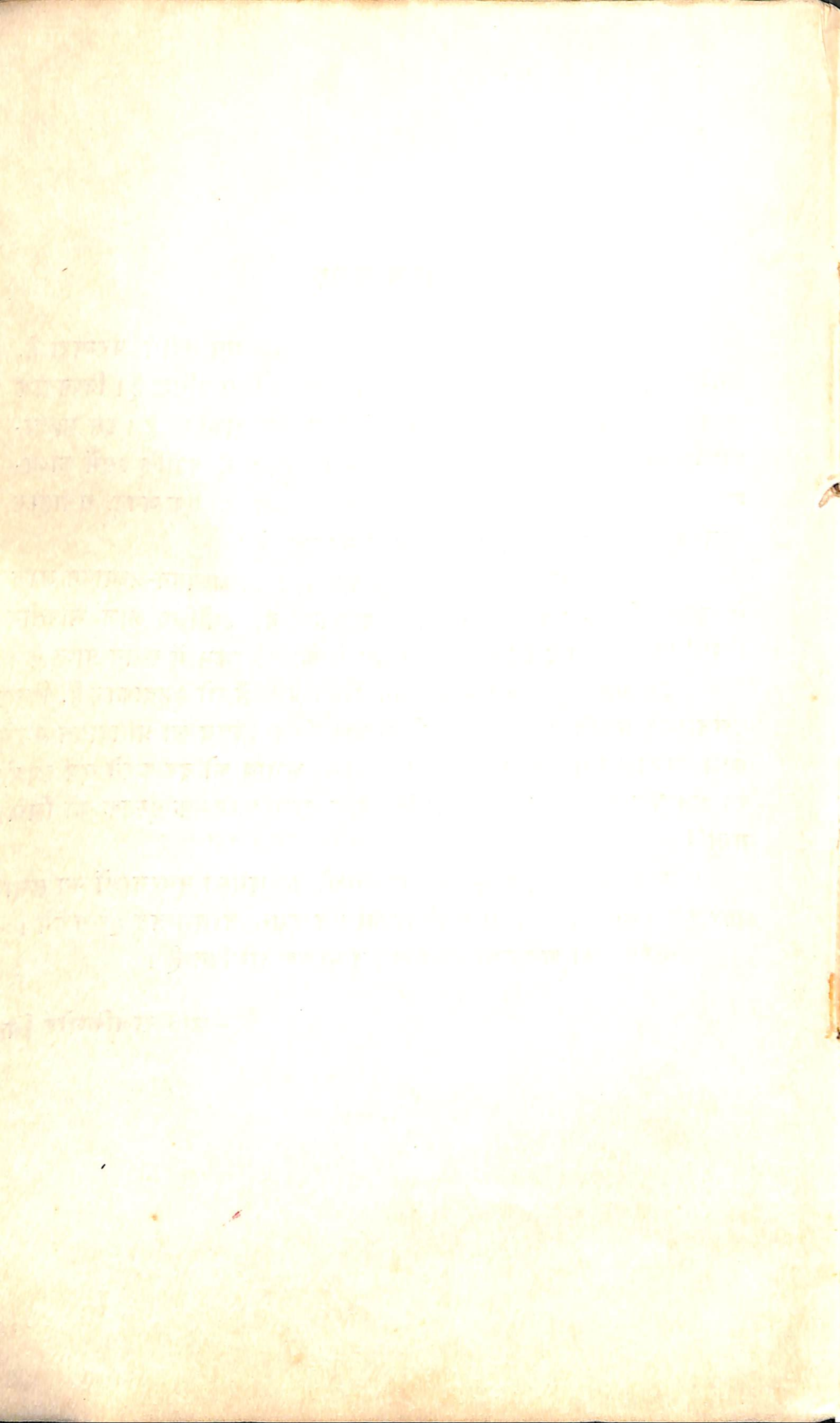
उपर्युक्त विशेषताओं के कारण इस ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन आज के संस्कृत विद्यार्थी की अपरिहार्य आवश्यकता है, इसीलिए आज भारतीय विश्वविद्यालयों में इसे विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के दो-तीन टीका ग्रन्थ हैं जो वृहदाकार हैं, किन्तु तुलनात्मक पद्धति एवं सरल शैली में प्रामाणिक विषय का प्रतिपादन करने वाले छात्रोपयोगी ग्रन्थ का अभाव है, इसी अभाव को दूर करने एवं छात्रों को अनावश्यक श्रम से बचाने के लिए इस आलोचनात्मक पुस्तक को लिखा गया है।

आशा है काव्य-शास्त्र के अध्येताओं की समस्त समस्याओं का समा-धान इस रचना में उन्हें प्राप्त होगा और वे इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

पाठकों को शुभकामनाओं सहित पुस्तक समर्पित है।

—डा० राजकिशोर सिंह



प्रश्नावली

तृतीय परिच्छेद—काव्यात्मतत्व विचार

चतुर्थ परिच्छेद—काव्य-प्रकार-निरूपण

पञ्चम परिच्छेद—व्यंजना-व्यापार-निरूपण

षष्ठ परिच्छेद—दृश्य-श्रव्य काव्य

सप्तम परिच्छेद—दोष निरूपण

अष्टम परिच्छेद—गुणविवेचन

नवम परिच्छेद—रीति विवेचन

दशम परिच्छेद—अलङ्कार विवेचन

व्याख्य-खण्ड

० ० ० ०

विश्वनाथ कविराज व्यक्तित्व–कृतित्व

१. विश्वनाथ का समय
२. वंशगौरव एवं व्यक्तित्व
३. कृतित्व
४. साहित्य-दर्पण
५. काव्य-आत्मा-विवेचन

प्रश्न १—आचार्य विश्वनाथ का समय निर्धारित कीजिए।

उत्तर—संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में विश्वनाथ कविराज का समय निर्धारण करने में कोई असुविधा नहीं है क्योंकि विश्वनाथ ने स्थान-स्थान पर अपना, अपने पिता और पितामह का उल्लेख किया है। यही नहीं, साहित्य-दर्पण में गीत-गोविन्द के प्रणेता जयदेव, प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव और नैषधीय चरित के प्रणेता श्रीहर्ष के श्लोकों को उद्धृत किया है, इनके उद्धरणों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ इन कवियों से परवर्ती हैं। विश्वनाथ ने बिना नामोल्लेख के मम्मट के काव्य-लक्षण की भयंकर आलोचना की है। रुय्यक की प्रेरणा पर विकल्प और विचित्र नामक अलंकारों को भी विश्वनाथ ने स्वीकार किया है। इन तथ्यों के आधार पर सुनिश्चित है कि विश्वनाथ इन सभी से परवर्ती हैं।

विश्वनाथ ने गुणीभूत व्यंग्य के विवेचन प्रसङ्ग में एक श्लोक इस प्रकार लिखा है—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

अलाउद्दीन का समय सुनिश्चित है, विश्वनाथ उससे पूर्ववर्ती नहीं हो सकते, क्योंकि अलाउद्दीन का समय १२९६-१३१६ ईसवीं है। इसी प्रकार—

गङ्गाम्भसि सुरत्राण! तव निःशान निस्वनः।
स्नातीवारि वधू वर्ग गर्भ पातन पातकी॥

"हे सुरत्राण (देवताओं के रक्षक) शत्रुओं के वधूवर्ग के गर्भ गिराने का पातक लगने के कारण तुम्हारी विजय यात्रा के बाजे (निःशान) का शब्द गंगाजल में मानो स्नान कर रहा है।" ये दोनों ही प्रसंग विश्वनाथ के समय निश्चित करने में सहयोगी

हैं क्योंकि "जिस किसी भी कवि ने अलाउद्दीन खिजली के उग्र स्वभाव के प्रकाशनार्थ **'सन्धौ सर्वस्वहरणम्'** आदि सूक्ति रची हो अथवा जिस किसी भी कवि ने सुलतान (सुरत्राण) अलाउद्दीन खिजली की पराक्रम गाथाओं की स्मृति में **'गंगाम्भसि सुरत्राण'** आदि की रचना की हो, वस्तुतः बात यह है कि इन सूक्तियों में ऐतिहासिक तथ्य का संकेत किया हुआ है और विश्वनाथ कविराज इस ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं।"

गीतगोविन्दकार जयदेव का श्लोक इस प्रकार है—

हृति बिसलताहारो, नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरल द्युतिः।
मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हर भ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥

महाकवि जयदेव बंगदेश के महाराजा लक्ष्मण सेन के सभापण्डित थे, अतः जयदेव का समय १२वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है। विश्वनाथ निश्चय ही इनसे परवर्ती हैं। जयदेव का एक अन्य श्लोक भी उद्धृत है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिर्भात तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः।

विश्वनाथ कविराज ने 'नैषधीयचरितम्' का भी श्लोक उद्धृत किया है। श्री हर्ष (११६७-११७४ ई०) का समय भी सुनिश्चित है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः यथा समाकृष्यतः नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धि मप्युत्तरली करोति ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ का समय २१०० ई० से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता है।

विश्वनाथ कविराज के प्रतितामह कविपण्डित नारायण के छोटे भाई चण्डीदास ने 'काव्य-प्रकाश' की दीपिका टीका लिखी है। जो इस बात का प्रमाण है कि इन दोनों के समय में अधिक से अधिक पचास वर्ष का अन्तर हो सकता है।

कलिङ्ग नरेश नरसिंह १२७०-१३०३ के दरबार में विश्वनाथ के पितामह नारायण और धर्मदत्त के शास्त्रार्थ का उल्लेख मिलता है। विश्वनाथ ने दोनों का ही साहित्य दर्पण में उल्लेख किया है, जो इस बात का प्रमाण है कि विश्वनाथ का समय १३०० ईसवी के आसपास ही है।

इन साक्ष्यों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रमाण हैं जो विश्वनाथ के समय निर्धारण में सहयोग देते हैं—

साहित्य-दर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का समय विक्रम संवत् १४०० (१३८४ ई०) है। इस प्रति का उल्लेख डाक्टर स्टीन द्वारा संग्रहीत जम्मू-कश्मीर

दरबार के पुस्तकालय की पुस्तकों की सूची में—अलङ्कारशास्त्र की पुस्तकों (पृष्ठ ६४) के साथ में हुआ है। इस प्रमाण के आधार पर विश्वनाथ का समय १३८४ ई० के बाद नहीं हो सकता है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य-व्याख्याकार मल्लिनाथ के पुत्र कुमार-स्वामी की प्रतापरुद्रीय की "रत्नापण" टीका में विश्वनाथ का उल्लेख मिलता है—

काव्यप्रकाश-प्रदीप के लेखक टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने साहित्य-दर्पण के काव्य-लक्षण की मान्यताओं को उद्धृत किया है। उपर्युक्त समस्त प्रमाण विश्वनाथ का समय १३००-१३५० ई० के मध्य सिद्ध करते हैं।

प्रश्न २—विश्वनाथ कविराज के वंशगौरव और व्यक्तित्व का परिचय दीजिए।

उत्तर—कविराज विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' नामक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ विद्वानों एवं साहित्य के अध्येताओं के मध्य समान रूप से समादृत रहा है। इस ख्याति-लब्ध ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र एवं नाट्यसिद्धान्त के तत्वों की विस्तृत समीक्षा मिलती है। ऐसे महान् ग्रन्थ के रचयिता का जन्म भी महान् विद्वत्कुल में हुआ था। अपने पूर्वजों के साहित्य-प्रेम को कविराज विश्वनाथ ने विरासत में पाया तथा उसे परा-काष्ठा में पहुंचाया। ये कपिंजल ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पुत्र अनन्त-दास ने 'साहित्य-दर्पण' की लोचन टीका में अपने पिता की प्रशस्ति में कहा है—

आसीत् कपिञ्जलकुल क्षीराकूपारचन्द्रमाः।
त्रिकलिङ्गाधिपधरा - धामधीसचिवः कृती॥
अशेषभाषारमणीभुजङ्ग साहित्यविद्यार्णवकर्णधारः।
ध्वन्यध्वनि प्रौढ़धियाँ पुरोगः श्री विश्वनाथः कविचक्रवर्ती॥

कपिंजल कुल के विद्वान ब्राह्मणों का सम्बन्ध परम्परा से कलिंग नरेशों की राजसभा से था, जहाँ वे सान्धि-विग्रहिक पद पर सुशोभित होते थे। राजाओं द्वारा इन्हें विश्वास एवं प्रतिष्ठा मिलती थी। कलिंग नरेश गजपति-साम्राज्य के संस्थापक थे और कदाचित इस वंश के अन्तिम प्रतापी नरेश निःशंकभानुदेव के सान्धि-विग्रहिक मन्त्री कविराज विश्वनाथ थे।

उन्होंने स्वयं इसका उल्लेख किया है—गजपति महाराज सान्धि-विग्रहिक—श्री विश्वनाथ कविराजस्य कृतमभिनवां चन्द्रकला नामनाटिकामभिनेतुमुचितोऽयं समयः। ...सभा मध्यास्ते गजपतिर्महाराजाधिराजः त्रिकलिंगभूमण्डलाखण्डलः श्रीमान निःशङ्क-भानुदेवः।

विश्वनाथ के प्रपितामह नारायणदास के उल्लासदास और चण्डीदास नामक दो पुत्र थे। उल्लासदास के पुत्र चंद्रशेखर थे और उन्हीं के पुत्र कविराज विश्वनाथ थे। चंडीदास के पुत्र कृष्णानन्द थे। विशिष्ट बात यह थी कि ये सभी राजनीति में पारंगत होने के साथ-साथ साहित्य-शास्त्र के पण्डित और काव्यों के रचयिता भी थे।

इनमें महाकवि चंद्रशेखर तथा महाकवि कृष्णानन्द का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में इनकी अनेक सूक्तियाँ उद्धृत की हैं। कृष्णानन्द द्वारा रचित महाकाव्य का नाम "सहृदयानन्द" था।

विश्वनाथ ने अपने पितामह का उल्लेख साहित्य दर्पण में भी किया है। इनके प्रपितामह साहित्यशास्त्र के प्रकांड विद्वान् थे, जैसा कि इस उक्ति में स्पष्ट है—

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद् वृद्ध प्रपितामह सहृदयगोष्टी गरिष्ठ कवि पण्डित मुख्य श्रीनारायण पादैरुक्तम् (सा. द. ३/३)

इसी प्रकार कलिंग महाराज की सभा में भी वे सम्मानित थे, और निरन्तर विचार-विमर्श करते रहते थे, इसका आभास 'काव्य प्रकाश दर्पण' की इस उक्ति से होता है—**"यदाहुः श्रीकलिंग भूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराज श्री नरसिंह देव-सभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः''''अस्मत् पितामह श्री नारायणपादाः।"**

साहित्य-दर्पण के दशम परिच्छेद के अन्त में विश्वनाथ ने अपने पिता का भी नामोल्लेख किया है।

श्री चन्द्रशेखर महाकवि चन्द्रसून श्री विश्वनाथ कविराज कृतं प्रबन्धम् साहित्य-दर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्वमखिलं सुखमेव वित्त। १०/१००। यही नहीं। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण के तृतीय परिच्छेद में अपने पिता श्री चन्द्रशेखर के कई श्लोकों को उद्धृत किया है,

प्रथमावतीर्ण यौवना मुग्धा नायिका के उदाहरण में—'**मध्यस्थ प्रथिमानमेति**' कलहान्तरिता नायिका के उदाहरण में—'नो चाटुश्रवणंकृतं' प्रवास विप्रलाभ के उदाहरण में 'चिन्ताभिः स्तिमितं" तथा प्रवास विप्रलम्भ के अनन्तर सम्भोग शृंगार के उदाहरण स्वरूप "क्षेमं तेनंनु आदि श्लोक विश्वनाथ के पिता श्री की विद्वत्ता एवं बहु पठित होने के प्रमाण स्वरूप हैं।

विश्नाथ के पिताजी कवि थे, उनकी दो रचनाओं का उल्लेख विश्वनाथ ने किया है 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णवं' इनका उल्लेख तथा इनके उद्धरण भी विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्धृत किये हैं—

द्वादशपदा नान्दी के प्रसंग में विश्वनाथ ने लिखा है कि द्वादशपदा (नान्दी) यथामम तातपादानां पुष्पमालायाम्।

शिरसि धृतसुरापगे (६/२५) और भाषार्णव (६/१६६) का उल्लेख इस प्रकार है—'भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ के पिता प्रकाण्ड विद्वान थे, शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि भाषाओं के पण्डित होने के साथ इन भाषाओं के व्याकरण में भी पारङ्गत थे। पिता की विद्वत्ता, ज्ञान आदि का प्रभाव तुत्र विश्वनाथ पर पड़ना स्वाभाविक था। अतः विश्वनाथ भी परम विद्वान थे, साहित्यशास्त्र, व्याकरण आदि पर उनका असामान्य अधिकार था।

यह अधिकार उनकी प्रमुख रचना साहित्य-दर्पण तथा अन्य रचनाओं में सहज ही देखा जा सकता है। दूसरा व्यक्ति इतना कष्ट सम्भवतः न करे इसीलिए विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण के प्रथम तथा दशम परिच्छेद की समाप्ति पर अपने नाम के साथ कई विरुदों का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार हैं—

"इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधारध्वनि प्रस्थापनपरमाचार्यकविसूक्तिरत्नाकराष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंगसांधिविग्रहिक महापात्र श्री विश्वनाथ कविराजकृतौ साहित्य-दर्पण तथा—

इत्यालंकारिकचक्रवर्तीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते....।

इन दोनों उद्धरणों से विश्वनाथ की निम्न विशेषताओं की ओर क्रमशः हमारा ध्यान खिंचता है—

(१) नारायणचरणारविन्द मधुव्रत

(२) साहित्यार्णव कर्णधार

(३) ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य

(४) कविसूक्तिरत्नाकर

(५) अष्टादशभाषावारविलासिनी भुजंग

(६) सांधि विग्रहिक

(७) महापात्र तथा

(८) आलंकारिकचक्रवर्ती

इन विशेषताओं से विश्वनाथ का व्यक्तित्व उभर कर हमारे सामने आ जाता है, तदानुसार वे परम वैष्णव थे, इस तथ्य की पुष्टि साहित्य-दर्पण के अन्तिम श्लोक मंगलात्मक से भी होती है जहाँ वे लिखते हैं कि "श्री नारायणस्याङ्कमलंकरोति" इसी प्रकार विश्वनाथ के राघवविलास के एक श्लोक से भी उनकी वैष्णवता प्रकट होती है, जहाँ जटाजूट राम को वन में देखकर वे अपनी भावाभिव्यक्ति करते हैं—**विपिने बवजटानिबन्धनं** (३/२२५)। आशय यह है कि विश्वनाथ परम वैष्णव थे। साहित्य-सागर में उनका प्रवेश निर्द्वन्द्व था, वे ध्वनि और रस सिद्धान्त के समर्थक थे, महाकवि थे, अठारह भाषाओं के ज्ञाता थे, अलंकारों पर उनका असामान्य अधिकार था। साथ ही राज दरबार में सांधि विग्रहित के पद पर भी प्रतिष्ठित थे। इसी तथ्य का समर्थन 'महापात्र' शब्द से भी होता है।

विश्वनाथ कवि थे, आंलकारिक थे, शब्दों के प्रयोग में उनका असामान्य अधिकार था, इस बात का समर्थन करते हुए विद्वत प्रवर श्री सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि :—

"साहित्य-दर्पण का रचयिता सबसे पहले कवि हो सकता है और बाद में ही आलंकारिक। रसिकता विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है।

विश्वनाथ कविराज को 'कविसूक्तिरत्नाकर' की जो पदवी मिली थी उससे भी यहीं स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज अपने समय के उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त के एक रसिकशिरोमणि हो चुके थे। विश्वनाथ कविराज की एक सूक्ति है—जो साहित्य-दर्पण (८/३) में 'मधुर रचना' के निदर्शन रूप में उद्धृत की गयी है और वह सूक्ति यह है—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्।
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशिदिशि॥

इस एक सूक्ति से ही यह निःसंदिग्ध रूप से माना जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज को 'वर्णों के संमोहक संगीत' का कितना प्रगाढ़ परिचय था और 'वर्णों की माधुरी' से कितना प्रेम था। विश्वनाथ कविराज का कवित्वमय व्यक्तित्व साहित्य-दर्पण की विचारधाराओं पर भी प्रतिबिम्बित दिखायी देता है।"

प्रश्न ३—विश्वनाथ कविराज की साहित्यिक कृतियों का परिचय दीजिये।

प्रश्न ४—विश्वनाथ की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम 'साहित्य-दर्पण' है। विवेचना कीजिए।

प्रश्न ५—'साहित्यिक-दर्पण' संस्कृत काव्य-शास्त्र का लोकप्रिय ग्रन्थ है। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ कविराज का व्यक्तित्व महान् था, तदनुरूप उन्होंने ग्रन्थ भी लिखे हैं। विश्वनाथ की रचनाओं के नाम निम्न हैं—

१. साहित्य-दर्पण, (काव्यशास्त्र का ग्रन्थ)
२. चन्द्रकला नाटिका
३. प्रभावति परिणय—नाटिका
४. कुवलयाश्वचरित—प्राकृत भाषा में लिखा हुआ महाकाव्य।
५. राघवविलास—महाकाव्य
६. कंसवध—काव्य
७. प्रशस्तिरत्नावली सोलह भाषाओं में लिखा करम्भक काव्य (प्रशस्तिपरक-ग्रन्थ)
८. काव्य प्रकाश की दर्पण नामक टीका
९. नरसिंह विजय काव्य (इसका उद्धरण अनन्तदास ने साहित्य दर्पण की टीका में दिया है)

आचार्य विश्वनाथ द्वारा लिखित **साहित्य-दर्पण** काव्य शास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें दस परिच्छेद हैं। इनमें काव्य का स्वरूप, हेतु, और प्रयोजन,

वाक्य तथा शब्द शक्ति का स्वरूप और भेद, रस, नायक-नायिका भेद, काव्य के ध्वनि एवं गुणीभूत नामक भेद, व्यंजनावृत्ति की स्थापना, दृश्यकाव्य का विस्तृत विवेचन, दोष, गुण, रीति एवं अलंकारों का विस्तृत विवेचन है।

इस रचना में काव्य एवं नाट्य दोनों का विवेचन है। यह कारिका, वृत्ति एवं उदाहरणों में लिखित है। इस कृति पर मम्मट का पूरा-पूरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। विश्वनाथ का यह ग्रन्थ छात्र तथा विद्वत्समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। क्योंकि इसकी भाषा सरल एवं सरस है। यद्यपि यह काव्यप्रकाश की शैली में लिखा गया है किन्तु इसमें काव्यप्रकाश शैली जैसी गम्भीर एवं सूक्ष्म चिन्ता का अभाव है। कहीं-कहीं काव्यप्रकाश के सिद्धान्तों के खण्डन का भी प्रयास है। निश्चय ही यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए परम उपयोगी है।

विश्वनाथ की दूसरी रचना '**चन्द्रकला नाटिका**' है। इसमें कुमारी चन्द्रकला और राजा चित्ररथ देव के अनुराग, वियोग और मिलन की त्रिवेणी श्रृंगार रस से पूर्ण होकर प्रवाहित होती है। कहानी लघु होते हुए भी सरस और मधुर है। इस नाटिका में चार अङ्क हैं। यह रचना 'प्रकाशन केन्द्र' अमीनाबाद लखनऊ से प्रकाशित हुई है।

विश्वनाथ की तीसरी रचना '**राघव विलास**' है। इसका उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में किया है। यह एक महाकाव्य है। इसमें विश्वनाथ की सरसता की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए एक श्लोक प्रस्तुत है—

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयो र्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीष कर्त्तनम्।

अर्थात "कहाँ जंगल में जाके जटाओं का बाँधना और कहाँ तुम्हारी यह सुकुमार मनोरम काया। विधि का इन दोनों का जोड़ना वैसा ही है जैसा तलवार से सिरस के कोमल फूल का काटना।"

विश्वनाथ द्वारा रचित चौथी रचना प्राकृत भाषा की है इसका नाम '**कुवलयाश्वचरित**' है यह काव्य भी श्रृंगार रस प्रधान है। इसका उल्लेख विश्वनाथ ने जड़ता नामक संचारीभाव के प्रसङ्ग में एक उदाहरण देकर किया है।

विश्वनाथ की पाँचवीं रचना '**प्रभावती परिणय**' नामक नाटिका है। यह भी श्रृंगार रस पूर्ण रचना है इसका एक उदाहरण विश्वनाथ ने "प्रथमावतीर्ण मदनविकारा यथा प्रभावती परिणय" में दिया है—

दन्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तः पुरात्,
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद् भावगभीरवक्रिमलवस्पष्टं मनाग् भाषते।
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्। (३/५८)

अर्थात् "धीरे से ढीला पैर पृथ्वी में रखती है, अन्तःपुर से बाहर नहीं निकलती, खिलखिलाकर अब हँसती भी नहीं, जरा सी देर में ही विचित्र लज्जा से निःस्ध हो जाती है, गम्भीर भाव भरे वक्रोक्तिमय कुछ थोड़े से वचन धीरे से बोलती है और प्रियतम की कथा कहती हुई सखी को भ्रकुटी भङ्ग से देखती है।

निश्चय ही रचना शृंगार रस की है।

विश्वनाथ को एक अन्य रचना **'प्रशस्तिरत्नावली'** इसमें सोलह भाषाओं में कलिङ्ग नरेश प्रथम और द्वितीय की प्रशस्तियाँ लिखी हैं। विश्वनाथ ने इस रचना का उल्लेख साहित्य-दर्पण के षष्ठ परिच्छेद में इस प्रकार किया है—

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्
यथा मम-षोडशभाषामयी प्रशस्ति रत्नावली। (सा. द. ६/३३७)

विश्वनाथ की एक रचना का नाम **'नरसिंह विजय'** है। सम्भवतः इसमें कलिङ्ग नरेश नरसिंह द्वितीय का वर्णन किया गया है। इस रचना का उल्लेख विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास ने साहित्य-दर्पण की टीका में किया है :—यथा मम तातपादानाँ विजय नरसिंहे।

विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' के सृजन के बाद **'काव्यप्रकाशदर्पण'** नामक टीका ग्रन्थ भी लिखा था। इसमें काव्यप्रकाश नामक मम्मट के ग्रन्थ की टीका है।

विश्वनाथ के **'कंस वध'** नामक महाकाव्य का उल्लेख डा० जयशंकर त्रिपाठी ने चन्द्रकला नाटिका की भूमिका में (पृष्ठ ३९) किया है।

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज के उपर्युक्त नौ ग्रन्थ हैं। इनमें 'साहित्य-दर्पण' उनका अन्यतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की पहली विशेषता है—काव्यविषयक समस्त विषयों का एक स्थान पर विनिवेश। अन्य जितनी भी काव्य-शास्त्रीय रचनाएँ हैं, वे अपूर्ण हैं।

दूसरी विशेषता नाट्यशास्त्र विषयक शास्त्रीय मान्यताओं का इसमें अभिनिवेश है।

इसकी तीसरी विशेषता इसकी सरल और सरस भाषा-शैली है। डा० सत्यव्रत सिंह ने ठीक ही लिखा है कि—

"साहित्य-दर्पण' बड़ा लोकप्रिय अलंकार ग्रन्थ है। 'काव्य-प्रकाश' की दुरूहता से लोग घबरा जाते हैं किन्तु 'साहित्य-दर्पण' अपनी सुबोधता से साधारण काव्य-प्रेमी को भी आकृष्ट कर लेता है। यदि साहित्य-दर्पण न रचा गया होता तो भारत के पूर्वी प्रान्तों के संस्कृत काव्य-नाट्य-प्रेमी नाट्यशास्त्र के विषयों से अपरिचित रह जाते। मौलिक न होने पर भी संग्रह प्रधान होने पर भी साहित्य-दर्पण साधारण सहृदय सामाजिक के लिए, वस्तुतः 'साहित्य-दर्पण' है जिसमें साहित्य शास्त्र के तत्व

प्रतिबिम्बित हैं। साहित्य-दर्पण के साहित्य शास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद इन विषयों के मौलिक ग्रन्थों का अनुशीलन लाभप्रद माना जाया करता है।"

निश्चय ही विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन ग्रन्थों की मान्यताओं का संग्रह सरल शैली में किया गया है। ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश आदि इसके आधार ग्रन्थ हैं।

इस प्रसंग में आचार्य प्रवर बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि—

"आलंकारिक दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्य-दर्पण मम्मट तथा रूय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया एक संग्रह ग्रन्थ है। वह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथ के लेख में दीख पड़ती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मट के ग्रन्थ में उपलब्ध होती है विश्वनाथ के ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिलती है। परन्तु इस ग्रन्थ में अनेक गुण हैं जो उसकी लोकप्रियता के कारण हैं। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मट के काव्यप्रकाश की शैली समासमयी होने के कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्य-शास्त्र का विद्यार्थी उसमें कठिनता से प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथ की शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनों की तुलना में साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषा में लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक हैं। इसकी व्याख्यायें संक्षिप्त होने पर भी विषय को विशुद्ध रूप से समझाती हैं। एक ही स्थान पर नाट्य तथा काव्य दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ को छोड़कर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्य-दर्पण अलंकार शास्त्र में प्रवेश करने वाले छात्रों का सबसे सरल मार्ग-दर्शक ग्रंथ माना जाता है।" (भारतीय साहित्य-शास्त्र)

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि साहित्य-पर्पण न तो अलंकार शास्त्र का प्रस्थान ग्रंथ है और न इसमें ध्वन्यालोक काव्य-प्रकाश और रसगङ्गाधर की प्रवाहपूर्ण वैज्ञानिक और विचारात्मक शैली है फिर भी यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

"वाक्यंरसात्मकं काव्यम्" जैसी काव्य परिभाषा ने परवर्ती आलोचकों को गम्भीर विवेचन के लिए प्रेरित किया और काव्य के भेद आदि पर पुर्नविचार करने के लिए भी उत्साहित किया है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि यह समम्त विश्वविद्यालओं के पाठ्यक्रमों में निर्धारित है।

प्रश्न ६—काव्य की आत्मा का विवेचन कीजिए। संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाओं का परिचय दीजिए।

उत्तर—संस्कृत साहित्य के अलंकार शास्त्र में काव्य के तत्वों का गम्भीर विवेचन हुआ है। काव्य के मूल तत्व का पर्यालोचन करने के कारण काव्य की मान्यताओं को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ है। इन सभी सम्प्रदायों की विभिन्नता

का कारण भी काव्य का मूल तत्व ही रहा है। भारत आरम्भ से ही आत्मवादी रहा है।

मानवात्मा की शोध एवं प्रतिष्ठा उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसको प्राप्त कर व्यक्ति आनन्द मग्न हो जाता है, काव्य भी आनन्ददायक है। अतएव काव्यशास्त्रियों ने भी उसमें आनन्द रूप आत्मा की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है। इसी महत्वपूर्ण विषय के पर्यालोचन के लिए आचार्यों ने सूक्ष्म चिन्तन के माध्यम से अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस एवं औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया। उसी के परिणामस्वरुप काव्यशास्त्र के इतिहास में छः सम्प्रदायों का जन्म हुआ। प्रत्येक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय अपने महत्व के प्रतिपादन के लिए प्रयत्नशील रहा है। 'अलंकार सर्वस्व' की समुद्रबन्ध टीका में पाँच काव्य सम्प्रदायों का इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन चेतित्रयः पक्षाः। अद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः। द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन पंचमो आनन्दवर्धनेन।"

इस उद्धरण में क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त का उल्लेख नहीं है उसे भी मिलाकर काव्य के मूलभूत तत्व आत्मा को लेकर छः काव्य सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

(१) रस सम्प्रदाय
(२) अलंकार सम्प्रदाय
(३) रीति सम्प्रदाय
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय
(५) ध्वनि-सम्प्रदाय
(६) औचित्य

रस-सम्प्रदाय :

रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भरत के समय हो चुकी थी, भरत का नाट्यशास्त्र रससिद्धान्त का प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें शताब्दियों से प्रवर्तित काव्यशास्त्रीय विवेचन का सार समाहित है। यह रस सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रंथ न होकर विकसित अवस्था का द्योतक ग्रंथ है। विद्वानों की मान्यता है कि भरत से पूर्व रस विवेचन प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुका था। भरत से पूर्व इस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हो चुके थे, जैसे—वासुकि, सदासिव, अगस्त्य, व्यास, नन्दिकेश्वर, वृद्धभरत आदि। **"ह्यष्टौ-रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना"** इस कथन से द्रुहिण नामक आचार्य का भी उल्लेख मिलता है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में काव्य-पुरुष की चर्चा की है, जिसमें उल्लेख है कि काव्य पुरुष ने काव्यशास्त्र के विभिन्न अधिकरणों को लिखने के लिए अपने अठारह पट्टशिष्यों को नियुक्त किया था, इन शिष्यों में रस के आचार्य के रूप में नन्दिकेश्वर की चर्चा है और नाट्यशास्त्र के लेखक के रूप में भरत की—**"रूपक निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।"** किन्तु नन्दिकेश्वर की आज कोई

कृति उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र उल्लेख होने पर भी प्रामाणिक ग्रंथों के अभाव में हम नाट्यशास्त्र के छठे एवं सातवें अध्याय में रससिद्धान्त की विस्तार से चर्चा देख कर उसे ही रससिद्धान्त का आद्यग्रंथ तथा भरत को प्रवर्त्तक आचार्य मान सकते हैं। भरत ने इन दोनों अध्यायों को 'रस विकल्प' और 'भावव्यञ्जक' के नाम से अभिहित किया है। फिर भी हमारा निश्चित मत है कि नाट्यशास्त्र का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि भरत से पूर्व रस-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हो चुका था। **"विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** यह भरत मुनि का सूत्र है। परवर्त्तीकाल में इस रस सूत्र की अनेक आचार्यों ने व्याख्या की है। अनेक व्याख्याकारों से व्याख्यात होने पर भी इस सूत्र की अपनी महत्ता है। साहित्य में रस का महत्व स्वयंसिद्ध है। वह काव्य का मूल तत्व है। विभिन्न काव्यसम्प्रदायों में भी रस की महत्ता स्वीकार की गई है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि, इन तीन ध्वनियों में रस ध्वनि को स्थान देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। भोजराज भी रसोक्ति का स्थान महत्वपूर्ण मानते हैं—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयः
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानीते।

आलंकारिकों ने रस की सत्ता को रसवदादि अलंकारों के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य भामह अलंकारवादी हैं। वे भरत के विरोधी आचार्य के रूप में आते हैं। अतः इनके अनुसार उत्तम काव्य के लिए अलंकार तत्व अनिवार्य तत्व है। रस इनके यहाँ गौण है। ये रस को अलंकारों के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि रसं यथा। (काव्यालंकार ३/६)

अर्थात् "रसवत् अलंकार वहाँ होता है जहाँ श्रृंगारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाये गये हों।" इतना होने पर भी हमारा स्पष्ट मत है कि भामह रस को महत्ता को स्वीकार करते हैं। "महाकाव्य के लिए वे समस्त रसों के विधान की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गबद्धता, शब्द एवं अर्थ सौष्ठव, पंचसंधियों का गठन तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग आवश्यक है उसी प्रकार सकल रसों का समावेश भी अनिवार्य है"—

युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। (काव्यालंकार १/१२१)

भामह विभाव को ही रस मानते हैं। डा० रामलाल सिंह का भामह के सम्बन्ध में मत है कि "भामह ने अलंकार के माध्यम से काव्य के कल्पना पक्ष पर सबसे अधिक बल दिया, इसलिए भाव से सम्बन्ध रखने वाले रस-तत्व की उपेक्षा उससे हो गई।" निश्चय यह है कि भामह अलंकारवादी आचार्य हैं, वे रस विरोधी भी हैं किन्तु काव्य में रस के महत्व को भी स्वीकार करते हैं। आचार्य दण्डी भी अलंकारवादी हैं, किन्तु वे भामह की भाँति रस के प्रति अनुदार नहीं हैं फिर भी उनकी दृष्टि भामह से साम्य रखती है। काव्यादर्श के द्वितीय आदर्श में वे रस का

विवेचन भी करते हैं। दण्डी माधुर्य गुण को ही रस का रूप देते हैं। उनका मत है कि "रसवत् वाक्य ही मधुर होता है, अतएव रस एवं माधुर्य एक ही पदार्थ है। जिस "शब्दार्थजन्य आह्लादकता से सहृदय-गण मत्त हो जाएँ, उसे रस कहते हैं"—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ (काव्यादर्श १/५१)

दण्डी के मतानुसार "प्रत्येक अलंकार अर्थ में रस-सिंचन की क्षमता रखता है—

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति" (काव्यादर्श १/६३)

इस प्रकार काव्य का सर्वस्व अलंकार मानते हुए भी उसकी चरम परिणति रस के रूप में इन्हें भी स्वीकार है। आचार्य **रुद्रट** अलंकारवादी हैं किन्तु रस को महत्व प्रदान करते हुए कहते हैं कि "**तस्मात् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्**" काव्य में यत्नपूर्वक रस की प्रतिष्ठा का आग्रह इन्हें मान्य है। अग्निपुराणकार काव्य में चमत्कार की प्रधानता मानते हुए भी रस को काव्य का जीवन मानते हैं—"**वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्**" वामन रीतिसम्प्रदाय के आचार्य हैं किन्तु वे गुणों का वर्णन करते हुए रस को उसका एक आवश्यक तत्व मानते हैं। कान्ति गुण के अन्तर्गत रस का समावेश करते हैं—"**दीप्तिरसत्वंकान्तिः**"। "वामन के काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-गुण कान्ति का आधार तत्व माना। इस प्रकार उनके मत से रस रीति का एक अंग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है—यही रस की सार्थकता है। अर्थात रस अंग है और रीति अंगी।"[१]

इस प्रकार रीति एवं अलंकारवादियों ने रस के अस्तित्व को स्वीकार किया है। आगे चलकर अधिकांश आचार्यों ने रस के महत्व को स्वीकार किया है। ध्वनि जो सर्वव्यापक सिद्धान्त में प्रतिष्ठित हुआ, वह भी रस को प्रधान स्थान देने वाला है। उसने 'रसध्वनि' के रूप में रस को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि काव्य माना है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्च द्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

यही नहीं, अभिधावादी भट्टनायक आदि भी रस को महत्व देते हैं और व्यंजनावादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त भी। रस और ध्वनि तत्व के प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ का तो कहना ही क्या। इनकी दृष्टि में रस काव्य का सर्वस्व है। इनके काव्य-लक्षणों तक में इसकी छाया दृष्टिगत होती है। वाग्भट्ट और जयदेव 'रसोपेतम्', 'रसानेक' युक्त काव्य को महत्वपूर्ण मानते हैं। आशय यह है कि रस की महत्ता संस्कृत साहित्य में अव्यवहित

---

१. डा० नगेन्द्र : **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका, पृ० १८४।**

रूप से स्वीकृत है।

रस सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक है। इस सिद्धान्त में मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्तियों का विस्तार से विवेचन कर उसके सहायक भावों की भी चर्चा होती है। रस लोकोत्तर, चमत्कारप्राण और चिन्मय कहा जाता रहा है। काव्य से प्राप्त आनन्द को लोकोत्तर आनन्द की समकक्षता प्रदान की जाती है। सिल्वाँ लेवी रस को भारतीय प्रतिभा द्वारा संसार को दिया हुआ नूतन और सर्वश्रेष्ठ दान मानते हैं। रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य तथा ग्रंथ निम्न हैं—भरत—नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक, धनंजय—दशरूपक, विश्वनाथ—साहित्य-दर्पण, जगन्नाथ—रसगंगाधर, अभिनवगुप्त—अभिनवभारती, भोज—शृंगार प्रकाश, मम्मट—काव्यप्रकाश, भानुदत्त—रसमंजरी तथा रसतरंगिणी, रामचन्द्र—गुणचन्द्र-नाट्य-दर्पण, शारदातनय—भावप्रकाशन, रूपस्वामी—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वल नीलमणि आदि।

अलंकार सम्प्रदाय :

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों में राजशेखर ने कई आचार्यों का उल्लेख किया है; जैसे—"आनुप्रासिकं प्रचेताः औपम्योपकायनः, अतिशयं पराशरः अर्थश्लेषमुतथ्यः उभयलंकारिकं कुबेरः।" इस प्रकार अनुप्रास, उपमा, अतिशयोक्ति, अर्थ-श्लेष तथा उभयालकारों के विवेचनकर्त्ता के रूप में ये समस्त आचार्य राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट हैं, किन्तु इन आचार्यों की कोई भी कृति आज उपलब्ध नहीं है। आज जिन आचार्यों की कृतियाँ प्राप्त हैं तथा जिनकी गणना अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत होती है, उनमें प्रथम आचार्य भामह हैं। अन्य आचार्यों में उद्‌भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्द्रुराज एवं जयदेव आदि प्रमुख हैं। उपर्युक्त समस्त आचार्य अलंकारों भी महत्ता स्वीकार करते हैं। भामह, दण्डी उद्‌भट आदि आचार्यों ने अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर इसे स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा न कहकर भी आत्मा तथा काव्य-सर्वस्व का पद दिया है। इन आचार्यों ने अंगीभूत रस, भव, रसाभास आदि को क्रमशः रसवत, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकार का नाम दिया है। गुण को यद्यपि इन आचार्यों ने स्पष्टतः अलंकार नहीं कहा है फिर भी दण्डी के कथन से प्रतीत होता है कि वे माधुर्यादि दस गुणों को साधारण अलंकार कहना चाहते हैं। अलंकारवादी आचार्यों ने ध्वनि को यद्यपि कहीं भी स्पष्टतः अलंकार नहीं कहा है "किन्तु रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्ति, संकर आदि अलंकारों के लक्षण अथवा उदाहरण इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि ये आचार्य न केवल ध्वनि अथवा व्यंजना तत्व से परिचित थे अपितु वे इसका अन्तर्भाव उक्त अलंकारों में प्रकारान्तर से करना चाहते थे।" इसके अतिरिक्त दण्डी ने नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों को भी 'अलंकार' नाम दिया है। संधि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग, लक्षणा आदि को वे अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में हैं। "इस प्रकार गुण, रस, ध्वनि, प्रबन्धकाव्य तथा नाट्य विषयों को भी अलंकार-

वादी आचार्य विशेचतः दण्डी 'अलंकार' नाम से अभिहित करते हैं। अतः इनके मत में केवल अनुप्रास, उपमा आदि ही अलंकार नहीं हैं, अपितु काव्य के वे सभी तत्व अथवा 'अंग' अलंकार कहलाते हैं जो काव्य के चमत्कारोत्पादक अथवा सौन्दर्य विधायक हैं।" निष्कर्षतः अलंकारवादियों को अलंकार का व्यापक अर्थ अभीष्ट है, इनके काव्य का सर्वस्व अलंकार ही है। अलंकारवादी रुय्यक का मत है कि प्राचीन आलंकारिक भामह, उद्भट आदि प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर अलंकार के अन्तर्गत मानते हैं—'**इह तावत् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।**" इन आचार्यों के अनुसार रसादि अलंकार के ही उपकारक तत्व हैं। अलंकारवादियों के कथनानुसार अलंकारों की प्रधानता के कारण रसादि के वर्णन होते हुए भी काव्य-मीमांसा के ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

अलंकरोति अलंकारः—'जो सुशोभित करता है वह अलंकार है' अथवा **अलंक्रियते अनेनेत्यलंकारः** "जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। प्रथम अर्थ में अलंकार कर्त्ता या विधायक है। द्वितीय अर्थ में साधन मात्र। अलंकार के सर्वसम्मत अर्थ की दृष्टि से द्वितीय अर्थ की व्युत्पत्ति अधिक संगत है जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है—"**काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः।**" दण्डी ने काव्य शोभा के कर्त्ता के रूप में अलंकार को महत्व दिया है—"**काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारन् प्रचक्षते।**" यहाँ अलंकार दो अर्थों में—काव्य के समग्र सौन्दर्य के रूप में तथा इसी सौन्दर्य के उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। वामन ने काव्य शोभाकारक न मानकर अलंकारों को गुण का उत्कर्षक माना है। इसी का प्रभाव परवर्ती काल में प्रतिफलित हुआ, परिणामस्वरूप एक पक्ष काव्य के लिए अलंकार अनिवार्य मानता है तो दूसरा गौण। मम्मट के "**अनलंकृती पुनः क्वापि**" पर चन्द्रालोककार पीयूषवर्ती जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि कोई काव्य को अलंकार रहित मानता है तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को ऊष्णता रहित क्यों नहीं कहता—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ नमन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

भामह ने कहा है कि आभूषण रहित सुन्दरी का मुख अपने प्रिय को अच्छा नहीं लगता—**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।**

किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा होने पर काव्य में अलंकारों की सत्ता अपरिहार्य नहीं रही—विश्वनाथ ने अलंकारों को शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है और उनको केयूर की भाँति शोभावर्धक तथा रस का उपकारक तत्व माना है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।

निष्कर्ष यह है कि (१) अलंकार काव्य के अनिवार्य गुण नहीं हैं। वे अस्थायी धर्म हैं। (२) काव्य शोभा अलंकार पर निर्भर नहीं है, वह शोभा का कर्त्ता न होकर शोभा वृद्धि ही करता है। (३) काव्य का सौन्दर्य है—रस। अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है आदि मान्यताएँ स्थिर हुई हैं। आशय यह है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।"

रीति सम्प्रदाय :

रीति-तत्व की चर्चा भरत के नाट्यशास्त्र में भी है। किन्तु इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य वामन ने किया है। वे ही इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं, उनका समय अष्टम शतक है। वैसे दण्डी की गणना भी इस सम्प्रदाय में सम्मान से होती है।

संस्कृत साहित्य में रीति शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। भामह रीति शब्द का अर्थ काव्य, दण्डी और भोज मार्ग, आनन्दवर्धन पद संघटना, रुद्रक एवं मम्मट वृत्ति और विश्वनाथ 'रीति' मानते हैं। भोज रीङ् गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से रीति शब्द निष्पन्न मानते हैं। इसका अर्थ वे मार्ग (पन्थाः) करते हैं—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है—"**रीतिरात्मा काव्यस्य**" और विशिष्ट पदरचना को रीति कहा है—**विशिष्टा पद-रचना रीतिः**" यह विशिष्टता गुणों के संश्लेषण पर आश्रित है "**विशेषो गुणात्मा**"। काव्यशोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण कहा जाता है—"**काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः**"। गुण नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य। गुण एकाकी भी, काव्य में वैशिष्ट्य को उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु एकाकी अलंकार नहीं। वामन के मत में काव्य का समस्त सौंदर्य रीति पर आश्रित है। यह सौन्दर्य दोषों के बहिष्कार गुण एवं अलंकारों के सफल प्रयोग से उत्पन्न होता है—**काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। सदोषगुणहानादानाभ्याम्।**" इस प्रकार वामन के अनुसार रीति पद रचना का यह प्रकार है जो दोषों से मुक्त गुणों से अनिवार्यतः तथा अलंकारों से साधारणतः उत्पन्न हो।

अब प्रश्न यह है कि वामन 'रीति' को आत्मा के पद पर किस प्रकार प्रतिष्ठित करते हैं? इस प्रश्न का समाधान दो प्रकार से हो सकता है—काव्य के अन्य उपादानों को अपने अभीष्ट काव्य-तत्व में अन्तर्भूत मानना अथवा (२) उन उपादानों द्वारा इस तत्व की पुष्टि मानना। "अलंकारवादियों ने स्वयं इस ओर कोई संकेत नहीं किया, फिर भी यदि रीति को एक स्वतन्त्र काव्य-सिद्धांत माना गया है तो इसका प्रमुख कारण यही है कि 'रीति' गुण के भेदों में अन्य कुछ शास्त्रीय काव्योपादनों का किसी न किसी रूप में अन्तर्भाव किया जा सकता है।" "वामन ने रीति को 'आत्मा'

पद से गौरवान्वित किया तो केवल इसी आधार पर कि वह अलंकारवादियों की अपेक्षा काव्य के बाह्य रूप को कहीं अधिक चमत्कृत करने के पक्ष में थे। उनके शब्द गुणों और अर्थ गुणों की परिभाषाओं की तुलना दण्डी द्वारा प्रस्तुत गुणों की परिभाषाओं से करने पर इसी तथ्य की पुष्टि हो जाएगी। उनका यह बाह्य रूप चकाचौंध मात्र न होकर स्थायी उज्ज्वलता का द्योतक है। इसका एक प्रमाण यह है कि इन्होंने शब्द गुण के अतिरिक्त अर्थ गुण भी माने हैं और दूसरा प्रमाण यह कि उनकी दृष्टि में ये गुण केवल 'पाठ' अर्थात् शब्द रचना के धर्ममात्र नहीं हैं क्योंकि सभी प्रकार की रचनाओं में वे दिखाई नहीं देते हैं। दूसरे आधार—विभिन्न काव्योपादानों द्वारा रीति को प्रमाणित करना। इस आधार पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता।"

'जहाँ तक वामन की रीति का अर्थ है वह रचना चमत्कार गुणों पर आश्रित रहता है। गुणों के प्रयोग और दोषों के बहिष्कार से रचना में सौन्दर्य आता है। रचना का यही सौन्दर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी में निहित रहता है। वह इसका साध्य नहीं साधन है। किन्तु ध्वनिवादियों के उदय के साथ ही रीति आत्मा न रहकर अंग संस्थान मात्र रह गई। वह रस की स्वयं उपकर्त्री समझी गई। ध्वनिवादियों के यहाँ 'रीति' शब्द और अर्थ के आश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज और प्रसाद के गुणों के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा को पहुँचती है।'

निष्कर्ष यह है कि "वामन अलंकारवादियों के सिद्धान्तों को अधिकाँशतः स्वीकृत करते हुए भी यह मानते थे कि रीति काव्य की आत्मा है। वह उनकी गुण ग्राहकता और शैथिल्य दोनों का द्योतक है।"

ध्वनि-सम्प्रदाय :

ध्वनि सम्प्रदाय का उदय भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में युगान्तकारी है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकार, रस रीति, वक्रोक्ति आदि पूर्वन्तनीन काव्य के तत्वों का सामंजस्य ध्वनि के साथ कर देते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आनन्दवर्धन एवं पोषक अभिनवगुप्त तथा उसमें प्राणाधान करने वाले आचार्य मम्मट हैं। यद्यपि ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों ने इसके खण्डन के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं किन्तु अन्तस्तत्व की महत्ता के कारण यह सिद्धान्त अजेय रहा है।

वाच्यार्थ की अपेक्षा जो अन्य हृदयाह्लादकारक हो वही ध्वनि है—**इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैर्कथितः।** (का० प्र० १/४) अर्थ प्रधानतः वाच्य एवं प्रतीयमान दो प्रकार के होते हैं। साहित्य में ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ में होता है तथा ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ में होता है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित होती है तथा वह एक अन्य ही वस्तु है, इसी 'अन्य' शब्द की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार इस प्रकार है—किसी सुन्दरी के शरीर में अंग तथा अवयव के अतिरिक्त

लावण्य की सत्ता रहती है, इसी प्रकार काव्य में भी चमत्कारोत्पादक प्रतीयमान अर्थ विद्यमान रहता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।

(ध्वन्यालोक १/४)

ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन की अपनी उपलब्धि है । आनन्दवर्धन ने पूर्ववर्ती कवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि तत्व को देखकर उसे काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार कर आत्मा के पद पर बड़े संरम्भ के साथ प्रतिष्ठित किया है । वे लिखते हैं—"**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः**" । "आनन्दवर्धन के इस कथन से ज्ञात होता है कि इनके पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हुआ था । ध्वन्यालोक की रचना से पूर्व भरत का नाट्य-शास्त्र, भामह का काव्यालंकार तथा उद्भट की इस पर टीका भामह विवरण, दण्डी का काव्यादर्श, वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति एवं रुद्रट प्रणीत काव्यालंकार नामक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे । इन सभी ग्रन्थों में ध्वनि का विवेचन नहीं है किन्तु आनन्द-वर्धन ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर तीन विरोधी मतों की कल्पना की है । ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व रस, रीति एवं अलंकार सम्प्रदायों का प्रतिपादन हो चुका था । यद्यपि ये आचार्य ध्वनि सिद्धान्त से परिचित नहीं थे तथापि इनके विवेचन में ध्वनि का पूर्वाभास हो चुका था । आनन्दवर्धन ने स्वतः इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इसकी स्थापनाएँ ध्वनि के निकट तक पहुँच गयी थीं । ध्वनि सिद्धान्त का मूल स्रोत वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त में सुरक्षित है तथा उनका स्वरूप भारतीय दर्शनों में विवेचित व्यंजना-व्यापार में देखा जा सकता है ।"

व्याकरण में कर्णगोचर शब्द अनित्य माने जाते हैं, अनित्य शब्द के अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है । अतः वैयाकरण नित्य शब्दों की कल्पना के लिए स्फोट सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं । इस स्फोट शब्द की व्याख्या आचार्यों ने इस प्रकार की है—"**स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः**" अथवा **स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः**" । जिस शब्द विशेष से अर्थ फूटता है वही स्फोट है, वह नित्य है । वह पूर्वापर सम्बन्ध रहित अखण्ड तथा एक रस है । इस शब्द की अभिव्यक्ति ही ध्वनितत्व है । व्याकरण शास्त्र में 'ध्वनि' शब्द केवल अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा ध्वनि सम्प्रदाय में ध्वनि शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए प्रयुक्त होता है ।

ध्वनि-सम्प्रदाय में ध्वनि काव्य की आत्मा है । ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि के अन्तर्गत रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि को ग्रहण करते हैं । रस ध्वनि से उनका अभिप्राय नवरस, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि आदि से भी है । वस्तु ध्वनि से तथ्य कथन तथा कल्पनाप्रसूत चमत्कार जनक भावाभिव्यक्ति का अलंकार ध्वनि में ग्रहण होता है । इन तीनों ध्वनियों में रस ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है । यही

ध्वनि है और यही काव्य की आत्मा है।

ध्वनिवादियों ने ध्वनि में काव्य के अन्य तत्वों का समाहार किया है। उनके अनुसार रस की भाँति गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं, वाच्य नहीं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है और न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलङ्कारों का और न वक्रता का ही। यह सब ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि गुण, रीति, अलङ्कार आदि तत्व प्रत्यक्षत: वाच्यार्थ द्वारा मन को अभिनन्दित नहीं करते, इसका महत्व भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा, वहाँ ये आत्मा विहीन तत्व आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसीलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है आशय यही है कि ध्वनि ही प्रधान है, वही काव्य की आत्मा है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। ध्वनि-सम्प्रदाय के उदय से पूर्व काव्यशास्त्र में यद्यपि मौलिकता थी, किन्तु उसमें परिपक्वता नहीं थी, अपनी-अपनी ढपली का राज्य था, किन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के कारण एक स्वस्थ दिशा का निर्देशन हुआ। परिपक्वता, प्रौढ़ता तथा गम्भीर्य का समावेश इसी काल में हुआ है। अत: यह चरम विकास का काल है। काव्यशास्त्र के इतिहास में यह काल एक मानक बन कर काव्यशास्त्र के इतिहास में यह सम्प्रदाय काल विभाजक बन गया। ध्वनि सिद्धान्त को आधार मानकर काल-विभाजन की रूपरेखा इस प्रकार है।

(१) पूर्व ध्वनिकाल—प्रारम्भ से आनन्दवर्धन से पूर्व ८५० ई० तक,

(२) ध्वनिकाल—आनन्दवर्धन से मम्मट १२५० ई० तक,

(३) उत्तर ध्वनिकाल—मम्मट के बाद से वर्तमान काल तक।

ध्वनिकाल के प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हैं। इनका महत्व पहले ही प्रदिपादित किया जा चुका है। दुसरे अभिनवगुप्त हैं, इनका समय ९८०-१०२० तक है। इन्होने ध्वन्यालोक-लोचन नामक ध्वन्यालोक की टीका लिखकर ध्वनि-सिद्धान्त को पल्लवित तथा पुष्ट किया है। इस कृति का महत्व किसी मौलिक कृति से कम नहीं है। "अभिनव ने सिद्ध किया कि व्यंजना व्यापार के द्वारा ही रस की सिद्धि हो सकती है।" अभिनव मुख्यत: रसवादी विचारक हैं, अत: इन्होंने रस के कारण ही ध्वनि की महत्ता प्रतिष्ठित की है। अभिनव के अनुसार रसभाव आदि की प्रतीति व्यंग्यद्वारा ही सम्भव है एवं रस का रहस्य व्यंजना शक्ति के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। इस प्रकार के विवेचन से रस एवं ध्वनि दोनों सिद्धान्तों में, अन्तस्सम्बन्ध स्थापित हो गया। ध्वनिकार ने ध्वनि के तीनों रूपों—वस्तु ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं रस ध्वनि की प्रतिष्ठा थी किन्तु अभिनवगुप्त ने इससे आगे बढ़कर यह उद्घोषणा की कि काव्य 'रस' के द्वारा ही जीवित रहता है तथा रस के बिना काव्य काव्य की अभिधा नहीं प्राप्त कर

सकता । इन्होंने बताया कि वस्तु एवं अलंकार ध्वनियाँ भी अन्ततः रस का बोध कराती हैं ।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस एवं ध्वनि का अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया ।

ध्वनि सिद्धान्त के उन्नायकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार्य मम्मट हैं । इन्हें ध्वनि प्रस्थापनपरमाचार्य कहा जाता है । इस सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं पुष्ट करने में मम्मट का सर्वाधिक योगदान है । मम्मट मूलतः ध्वनिवादी हैं, अतः काव्यप्रकाश के पाँचवें उल्लास में व्यंजना विरोधी समस्त आचार्यों के सिद्धान्त का खण्डन कर व्यंजना की स्थापना करते हैं । मम्मट के अनन्तर रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ आदि ने भी ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा में योगदान दिया है । आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ भी ध्वनि समर्थक आचार्य हैं, ध्वनि सिद्धान्त के प्रति आस्था प्रकट कर भी ये पूर्णतः मौलिक हैं । "पण्डितराज ने ध्वनिवाद के अन्तर्गत रहकर ही, ध्वनिवादी आचार्यों से प्रेरणा लेकर उन्हें ही आवश्यकतानुसार प्रमाण-पक्ष में रखकर, रसादि की संलक्ष्य-क्रमता को इस रूप में स्वीकार करके, एक मौलिक दृष्टिकोण की स्वीकृत की है । इससे ध्वनिवाद का विरोध नहीं हुआ, कुछ और निखरा ही है ।"[१] ध्वनिसम्प्रदाय का अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ 'रसगंगाधर' है । ध्वनिविरोधी आचार्यों में मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, धनंजय-धनिक, कुन्तक और महिमभट्ट उल्लेखनीय हैं ।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय :

भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और रीति तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद दिया जा चुका था, तथा भरत और आनन्दवर्धन द्वारा रस का परिनिष्ठित स्वरूप भी व्यवस्थित किया जा चुका था । आचार्य कुन्तक इन समस्त तत्वों से पूर्णतः परिचित थे । अतः वामन प्रतिपादित 'रीति' को गौण अप्रधान मानकर इस रस पर न तो प्रकाश ही डाला और न महत्व ही प्रदान किया किन्तु शेष तीन तत्वों को वक्रोति के समाविष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है "कुन्तक वक्रोक्ति को अलंकार और प्रकारान्तर से 'ध्वनि' कहकर दोनों सिद्धान्तों के प्रति विशेषतः ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति समादर व्यक्त करते हैं । रस को तो इन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है किन्तु मूलतः वक्रोक्तिवाद की वे स्थापना करते हैं । कुन्तक ने वक्रोक्ति को उक्ति चमत्कार, सामान्यजन के कथन से भिन्न तथा चमत्कार जनक कथन का प्रकार ही (वक्रोक्ति) माना है, तथा इसे काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है ।" किन्तु अलंकार शास्त्रियों में वक्रोति के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । **भामह** इसे अतिशयोक्ति अलंकार का ही रूपान्तर मानते हैं—"**वाच्यां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते**, तथा वामन सादृश्य पर आश्रित अर्थालंकार के अन्तर्गत लक्षणा

---

१. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ६८ ।

मानते हैं। रुद्रट उक्ति-प्रत्युक्ति में ही वक्रोक्ति अलंकार की सत्ता मानते हैं। वक्ता ने कुछ कहा श्रोता ने सम्बन्ध दूसरे अर्थ का लगा लिया, यही वक्रोक्ति है।" किन्तु कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा का पद देते हैं—**'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्'** "इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह ने अलंकार के मूल तत्व के रूप में गृहीत की थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्व स्वीकार की गई।" किन्तु परिवर्ती काल में यह पुनः आत्मा के पद से पदच्युत कर दी गई और अलंकार के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकी। क्योंकि वक्रोक्ति के माध्यम से काव्य चमत्कार का निरूपण किया जाता है। "वर्ण सम्बन्धी सूक्ष्म एवं बाह्य सौन्दर्य से लेकर प्रकरण और प्रबन्ध वक्रता तक का विवेचन इस सिद्धान्त के क्षेत्र में है। इसके भीतर इस प्रकार शैली की विशेषताएँ गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि प्रबन्ध संगटन, औचित्य और रस का अंशतः समावेश हो जाता है। काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए वक्रोक्ति-सिद्धांत एक सूक्ष्म व्यापक और सर्वांगीण कसौटी का कार्य कर सकता है। पाश्चात्य विचारकों जैसे अरिस्टोटल, लांजीनस, एडीसन, क्रोचे आदि ने अपने सिद्धान्तों में वक्रोति की विशेषताओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।"

कुन्तक काव्य का आह्लाद उक्तिवक्रताजन्य मानते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति वक्रता आती है। अपने उद्दीप्त मनोविकारों का भावन करने में कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति में वक्रता आ जाती है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा—वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नहीं हो सकती। कुन्तक मूल स्थिति तक न जाकर मध्य में ही रुक गए हैं। अतः वक्रोक्ति काव्य की आत्मा नहीं है वक्रोक्ति के भेद इस बात के प्रमाण हैं कि वह वैचित्य पर आधारित है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक रुचिर तथा सुगूढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता में चमत्कृति का संचार होता है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं; परन्तु उनकी अभिधा शब्दों का शक्ति रूप आद्य एकदेशीय व्यापार नहीं है, प्रत्युत उनकी अभिधा के भीतर लक्षणा तथा व्यंजना का समग्र संसार विराजमान है। बालरुचि वाले कवियों को पसन्द आने वाले चमत्कार के पक्षपाती नहीं हैं। प्रत्युत वे रस को काव्य का मुख्य अर्थ मानने वाले आचार्य हैं।.........कुन्तक की आलोचना की प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मता का परिचय इसी से लग सकता है कि पश्चाद्वर्ती ध्वनिवादी आलंकारिकों के उनकी वक्रोति के समग्र पत्रकारों को ध्वनि का प्रभेद मानकर अंगीकार कर लिया है।" इस सम्प्रदाय की एक विशेषता यह भी है कि इस सम्प्रदाय ने अलंकार, 'रीति' रस तथा ध्वनि आदि सिद्धान्तों की एकांगिता को दूर कर काव्य के पूर्ण स्वरूप तथा तत्वों का परिचय दिया है किन्तु योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में इस सम्प्रदाय का समुचित विकास नहीं हो सका है। कुन्तक का समय ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ माना

जाता है।

औचित्य-सम्प्रदाय :

औचित्य सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। औचित्य का आग्रह भरत के नाट्य-शास्त्र में भी है आनन्दवर्धन भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुए रस का मूलरहस्य औचित्य को ही मानते हैं—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। (ध्वन्यालोक ३/१४)

आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्य तथा ध्वनि को परस्पर उपकारक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी होते हुए भी औचित्य को व्यापक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों को औचित्य के अन्दर आत्मसात करते हुए लिखा है कि अलंकार और गुणों का अपना महत्व है किन्तु रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

क्षेमेन्द्र उचित का जो भाव है वही औचित्य है—"**उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।**" यह औचित्य का लक्षण लिखकर उसे रस का प्राण-तत्व एवं काव्य में चमत्काराधायक मानते हैं। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि 'औचित्य रस का जीवन है, रस काव्य की आत्मा है, वह उस आत्मा का भी जीवन है अतः विचारणीय है।' (औ० वि० च० श्लोक ३)

औचित्य तत्व काव्य में निश्चित ही अपरिहार्य है क्योंकि काव्य में यदि इसी तत्व का अभाव होगा, तो काव्य उपहासास्पद हो जायेगा। उदाहरणतः विकृतांग व्यक्ति लोक में सामान्यतः तिरस्कार का पात्र बनता है, इसी प्रकार विकृत काव्य भी विद्वानों द्वारा उपेक्षणीय ही होता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर विचार करते हुए उसके अनेक भेदों की चर्चा की है। उनके अनुसार जैसे—पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, रस, अलंकार, क्रिया कारक, लिंग, वचन देशकाल आदि।

औचित्य तत्व काव्य के लिए कोई नूतन उपलब्धि नहीं है अपितु भरत, आनन्दवर्धन एवं कालिदासादि के काव्य में इस तत्व को देख तथा उसकी महत्ता का अनुभव कर इसकी आवश्यकता पर बल देकर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र के जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है तथा काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है। इस सम्प्रदाय के यह अकेले ही आचार्य हैं किन्तु इस तत्व के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं। क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का सामान्य परिचय

मिलता है। किन्तु हमारा यह निश्चित मत है कि अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य तथा रस आदि परस्पर नितांत भिन्न न तो तत्व हैं और न भिन्न सम्प्रदाय ही। अपितु रुचि भेद से ये महान् काव्य के अंग हैं। इन सबका समष्टि रूप ही काव्य है। इन तत्वों को दो वर्गों में विभक्त कर अध्ययन किया जा सकता है—एक आत्म तत्व का पक्ष तथा दूसरा शरीर के महत्व को स्वीकार करने वाला पक्ष। आत्मा और शरीर की सापेक्ष अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है तो शरीर के बिना आत्मा का कोई मूर्त्त अस्तित्व नहीं। यह बात रस और रीति के सम्बन्ध में है। भाव-सौन्दर्य उक्ति सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे रह सकता है; इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव-सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एकांकी रूह में ये सभी तत्व एवं तत्सम्बन्धी सम्प्रदाय काव्य के व्यापक रूप को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसके एक अंग को ही प्रस्तुत करते हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जिसे काव्य का अंग स्वीकार न किया जा सके। काव्य-सम्प्रदायों के महत्व तथा पारस्परिक सहयोग की दृष्टि से हम कुप्पूस्वामी के इस श्लोक को उद्धृत कर स्पष्ट करेंगे कि ये सभी तत्व मिलकर ही काव्यतत्व को स्पष्ट करते हैं—

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनि रसोन्नयाः।
गुणालङ्कृति रीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः।।

आशय यह है कि औचित्य का एक वृत्त है। औचित्य के वृत्त पर ध्वनि, रस एवं अनुमिति की सत्ता है। जब कवि की आत्माभिव्यक्ति होती है तो ध्वनित होकर रस व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार औचित्य तत्व पर ही रस की स्थिति रह सकती है। वक्रोक्ति कथन की प्रणाली है, जब तक कथन में अनूठापन या वक्रता नहीं होगी, तब तक गुण व अलंकार की स्थिति सम्भव नहीं है, क्योंकि वक्रता के द्वारा ही गुण और अलंकार हैं। रीति की उत्पत्ति गुण और अलंकार के कारण है। इन्हीं गुण और अलंकार का मिश्रित रूप ही रीति है। इस स्थिति में ही यह वक्रता रीति में परिणत हो जाती है। बाह्य वृत्त आत्मा का है और आन्तरिक वृत्त शरीर का। केन्द्र ही अन्य दोनों वृत्तों में परिणत हो जाता है। रस ही काव्यआत्मा है, वह ध्वनि के द्वारा औचित्य के माध्यम से व्यक्त होने पर ही काव्य की आत्मा है, वह शब्दार्थ के द्वारा ही व्यक्त होता है, यह सम्पूर्ण समष्टि ही काव्य की आत्मा है। पाठक औचित्य के माध्यम से चलता है, देखता एवं अनुभव करता है और कवि शरीर तत्व से। इन दोनों के संयोग से ही काव्यात्मा रूप आनन्द की उत्पत्ति होती है, यह आनन्द ही रस है, यही रमणीयता है और यही रस या आनन्द काव्य की आत्मा है।

० ० ० ०

प्रथम-परिच्छेद

काव्य-स्वरूप-निरूपण

१. काव्य-प्रयोजन

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि समीक्षा

३. "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"

प्रश्न ६—भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में आचार्यों द्वारा उल्लिखित काव्य-प्रयोजनों का विस्तार से विवेचन कीजिए।

प्रश्न ७—आचार्य विश्वनाथ लिखित काव्य के प्रयोजनों पर विचार कीजिए।

उत्तर—संस्कृत साहित्य में काव्य के प्रयोजनों पर विषद रूप में विचार किया गया है। शास्त्र और काव्य का कोई न कोई निश्चित प्रयोजन होता है, क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी सार्थकता ही क्या ?

सर्वस्यैवहि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ।।

अतः काव्य के प्रयोजन का महत्व स्वयं सिद्ध है। इस महत्व के अनुरूप प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में 'प्रयोजन' पर विचार किया जा रहा है। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ (१/११३-११५) में काव्य (नाट्य) के प्रयोजनों पर विचार करते हुए लिखा है कि "नाटक धर्म, यश और आयु का साधक, कल्याणकारक, बुद्धिवर्धक एवं लोकोपदेशक होता है। इसके अतिरिक्त वह लोक मनोरंजन एवं शोकपीड़ित तथा परिश्रांत जनों को विश्रांति प्रदान करने वाला होता है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जनन कालेवाट्यमेतद् भविष्यति।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय में देवता एवं दानव ब्रह्मा की प्रशंसा

करते हुए कहते हैं कि—"हे महामते ! आपके द्वारा विरचित यह नाट्यरचना अत्यन्त मनोरम है। यह यश, कल्याण, पुण्य तथा बुद्धि को बढ़ाने वाली है !"

अहो नाट्यमिदं सम्यक् त्वया सृष्टं महामते।
यशस्यं च शुभार्थं च पुण्यं बुद्धि विवर्द्धनम्॥ (४/१२)

आशय यह कि पीड़ित मानव जाति के कल्याण, लोकमंगल और उसके सन्ताप को हरने के लिए ही नाट्य और काव्य जैसी रचनाएँ होती हैं। भरत के काल से ही प्रयोजन-विचार की परम्परा निरन्तर प्रवाहित हो रही है।

भरत के अनन्तर आलंकारिक **भामह** ने और भी व्यापक रूप में काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया और कुछ ऐसे तत्वों का समावेश किया, जिनकी चर्चा भरत ने नहीं की थी। भामह के अनुसार काव्य का सृजन—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अतिरिक्त कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए होता है—

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निबन्धनम्॥

(काव्यालंकार १/२)

भामह ने आनन्द नामक नए तत्व का संकेत किया। "भामह पुरुषार्थ चतुष्ट्य यश एवं कला तथा व्यवहार में निपुणता की प्राप्ति को भी काव्य का प्रयोजन ठहराते हैं। इस प्रकार प्रेम के साथ ही साथ श्रेय (मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन बतलाकर उन्होंने काव्य में लोकोत्तर तत्व का समावेश किया एवं लोकोत्तर औदात्य को स्वीकार कर भामह ने उसे उच्चतर पीठिका प्रदान की।" भरत एवं भामह के काव्य प्रयोजनों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि भामह के आदर्श भरत रहे हैं। "भरत के **धर्म्य** एवं **यशस्य** ही काव्यालंकार में '**धर्म**' एवं **कीर्ति** के रूप में अवतरित हुए हैं। इसी प्रकार भरत के '**हित**' एवं '**लोकोपदेशजनन**' विशेषण भामह के '**अर्थ**' तथा '**मोक्ष**' के रूप में निर्दिष्ट किए गए हैं। भामह ने '**आनन्दोपलब्धि**' को प्रयोजन सिद्ध करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में सर्वथा नवीन तथ्य की व्यंजना की है। प्रायः सभी परवर्ती आचार्य किसी न किसी रूप में भामह के ही ऋणी रहे हैं।"

काव्य शास्त्री वामन ने काव्य के केवल दो प्रयोजन कीर्ति एवं प्रीति को स्वीकार किया है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
काव्यं सत् चारु, दृष्ट प्रयोजनं प्रीति हेतुत्वात्।
अदृष्ट प्रयोजनं कीर्ति हेतुत्वात्।

(काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १/१/५)

कीर्ति एवं प्रीति को क्रमशः कविनिष्ठ एवं पाठकनिष्ठ कहा जा सकता है। निश्चय ही वामन की "वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि

और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है।"

आचार्य वामन के पश्चात् **रुद्रट ने** काव्य प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है। रुद्रट रसिकों को सहज रूप से चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति के अतिरिक्त **अर्थोपशम, विपदनिवारण, रोगविमुक्ति** एवं **अभीष्ट वर** की प्राप्ति को काव्या का प्रयोजन मानते हैं। रुद्रट काव्य का एक प्रयोजन यश भी मानते हैं, जैसा कि उनका कहना है कि—"महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ, अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है।" यही नहीं, रुद्रट के अनुसार अर्थ प्राप्ति भी काव्य का एक प्रयोजन है—"रुचिर देवस्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियों का नाश, असाधारण आनन्द, जिस किसी वस्तु की कामना करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है—

ज्वलदुज्ज्वलं वाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रुद्रट यश, अर्थ, विपत्ति-रोग आदि का नाश अभीष्ट की प्राप्ति तथा आनन्द को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। रुद्रट की ये मान्यताएं पूर्व परम्परा से प्राप्त हैं तथा परिवर्ती आचार्य मम्मट के काव्य प्रयोजनों की प्रेरक हैं।

आनन्दवर्धन ने काव्य का प्रयोजन प्रीति को माना है, किन्तु आनन्दवर्धन का प्रीति से अभिप्राय काव्यार्थ से सहृदय के हृदय में उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति है—

"तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्" (१/१) अभिनवगुप्त ने भी प्रीति को ही काव्य का परम प्रयोजन माना है। आचार्य भोज ने प्रीति और कीर्ति को काव्य का प्रयोजन माना है। **रसान्वितं कविः कर्वन् कीर्ति प्रीति च विन्दति** (स. क. १/२)।

आचार्य **कुन्तक** ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में काव्य प्रयोजन पर विस्तार से विचार किया है, उनके अनुसार काव्य उच्च कुलोत्पन्न राजपुत्रों के लिए सुन्दर, सरल एवं सरस रूप में कहा गया धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। इससे व्यवहार ज्ञान की प्राप्ति होती है, इससे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वास्तव में कुन्तक ने ही काव्य का वास्तविक प्रयोजन व्यक्त किया है—

धर्मादिसाधनोपाय सुकुमार क्रमोदित।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारिण।
व्यवहार परिस्पन्दसौंदर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृत रसेनान्तश्चत्मकारो वितन्यते॥ (व. जी. १/४-६)

आचार्य **मम्मट** ने रुद्रट से प्रेरणा लेकर काव्य के निम्न प्रयोजन बतलाए हैं—यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतर-क्षति, प्रीति या परनिर्वृति तथा कान्तासम्मित उपदेश—

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे॥ (का. प्र. १/२)

मम्मट के इन प्रयोजनों पर विचार करने के अनन्तर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मम्मट का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। मम्मट ने यश को प्रथम स्थान दिया है, जो कि कवि की दृष्टि से उचित ही है। दूसरी ओर "सद्यः परिनिर्वृति" को सकल मौलिभूत कह कर पाठक की दृष्टि से उसके महत्व की स्थापना की है।

हेमचन्द ने काव्य के तीन प्रयोजन—आनन्द, यश और कान्ता—सम्मित उपदेश बतलाये हैं—काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोदेशाय च। इन तीनों में आनन्द को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहा है कि आनन्द कवि एवं सहृदयगत है यश की आकांक्षा केवल कविगत है और सहृदय पाठक उपदेश ग्रहण करता है। निश्चय ही ये तीनों तत्व महत्वपूर्ण हैं किन्तु आनन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रयोजन है। अग्नि-पुराणकार ने भामह के चतुर्वर्ग की अपेक्षा त्रिवर्ग को प्रयोजन माना है।

विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजन :

आचार्य विश्वनाथ की काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मान्यता पर सर्वाधिक प्रभाव आचार्य कुन्तक का है : कुन्तक की मान्यताओं का सार यह है कि काव्य के निम्न प्रयोजन हैं।

(१) धर्मादि चतुर्वर्ग की प्राप्ति की शिक्षा,
(२) व्यवहारादि के सुन्दर रूप की प्राप्ति,
(३) लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति।

लगभग यही मान्यता आचार्य विश्वनाथ की है।

आचार्य विश्वनाथ ने चर्चा का समारम्भ करते हुए लिखा है कि : यह ग्रंथ काव्यों का अंगभूत है, अर्थात् काव्यों के फल को सिद्ध करने में यह भी एक कारण है, अतः काव्यों के अध्ययनादि से जो फल होते हैं, इसके भी वही प्रधान फल होते हैं, अतः उनको कहते हैं—**अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्य-फलान्याहः**—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरुप्यते॥२॥

अर्थात् काव्य के द्वारा अल्पबुद्धि वालों को बिना परिश्रम के चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) रूप फल की प्राप्ति हो सकती है, अतः उसके स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

काव्य के चतुर्वर्ग की प्राप्ति का उपपादन करते हुए वे लिखते हैं कि—**चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादि वदित्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।** अर्थात् काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति रामादिकों की तरह पिता की आज्ञा पालन आदि धर्म कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए, रामणादि की तरह परस्त्री हरण आदि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए इत्यादि रीति से शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्ति और अकृत्य शास्त्र निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति के उपदेश के द्वारा, यह प्रसिद्ध है । अपने कथन के समर्थन में एक प्राचीन कथन को उद्धृत करते हैं :

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निषेवणम् ।

अर्थात् श्रेष्ठ काव्यों के अध्ययनादि से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के साधनों और नृत्य गीत आदि कलाओं में निपुणता (विशिष्ट ज्ञान) प्राप्त होती है, संसार में कीर्ति का विस्तार होता है और हृदय में आनन्दानुभूति होती है ।

काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति :

(**धर्म**—विश्वनाथ अपने भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि काव्य धर्म कार्यों में प्रवृत्ति का केवल कारण है, धर्म का कारण नहीं है—यह जिज्ञासा उचित नहीं है, काव्य, धर्म आदि के प्रति साक्षात् कारण है : क्योंकि काव्य से धर्म की प्राप्ति भगवान नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है—**किञ्च काव्याद्धर्मप्रिप्तर्भगवान्नारायणचरणारविन्दस्तादिवादिना, "एक शब्दा सप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके काम धुग्भवति" इत्यादि वेदवाक्ये भ्यश्च सुप्रसिद्धैव ।**

अर्थ—काव्य से अर्थ की प्राप्ति स्पष्ट है क्योंकि राजागण आश्रित कवियों को धन आदि प्रदान करते हैं :—अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्ष सिद्धां ।

काम—काव्य से काम रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति भी होती है क्योंकि काव्य से धन की प्राप्ति होती है, धन के द्वारा काम सुख प्राप्त होता है : "कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैवं ।"

मोक्ष—काव्य के द्वारा सहृदय के हृदय में वैराग्य का भाव उत्पन्न किया जा सकता है "काव्य से उत्पन्न धर्म के फल का परित्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति भी काव्य के द्वारा हो सकती है ।" काव्य के ज्ञान से मोक्षोपयोगी शास्त्रीय कथनों को समझने में सहायता मिलती है, अतः काव्य के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव है—**"मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्य धर्मफलाननु सन्धानात् । मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्याधायकत्वाच्च ।"**)

इस प्रकार सिद्ध है कि काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है । विश्वनाथ ने कारिका में 'एव' शब्द (काव्यादेव) का साभिप्राय प्रयोग किया है, उसकी सार्थकता का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि "नीरस होने के कारण वेद शास्त्रादि से चतुर्वर्ग की प्राप्ति दुःख से ही होती है और वह भी परिपक्व बुद्धि पुरुषों को ही

होती है, सबको नहीं। किन्तु परम आनन्द समूह का उत्पादक होने के कारण सुकुमार बुद्धि राजकुमारादिकों को भी सुख पूर्वक उसकी प्राप्ति यदि किसी से हो सकती है, तो काव्य से ही— चतुर्वर्ग प्राप्तिहि **वेदशास्त्रेभ्यो** नीरसतया दुःखादेव परिणत-बुद्धीनामेव जायते।

परमानन्द संदोह जनकतया।
सुखादेव सुकुमार बुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।

अब प्रश्न यह है कि परिपक्वबुद्धि पुरुष वेद शास्त्रादि के रहते हुए काव्यों का अध्ययन क्यों करें ? इस शंका का समाधान करते हुये आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं कि "यह ठीक नहीं, क्योंकि कड़वी कसैली औषध से शान्त होने योग्य रोग यदि मीठी-मीठी सुन्दर श्वेत खांड से दूर होने लग जाय तो ऐसा कौन अभागा रोगी होगा, जो खांड खाना पसन्द न करे। इसलिए यह कोई बात नहीं कि परिपक्व बुद्धि पुरुष काव्य नहीं पढ़ेगे—"ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति **काव्ये यत्नः करणीय** इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य **सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करा प्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।**"

काव्य के महत्व और उपयोगिता को अन्य लोगों ने भी स्वीकार किया है, इसके समर्थन में विश्वनाथ अग्निपुराण का उद्धरण देते हैं :—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभंतत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभ॥

और भी—**त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्।** विष्णु पुराण में भी लिखा है कि—

काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यलिखानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः। इति।

आचार्य मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजनों को माना है—यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट निवारण, सद्यः पर निवृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश। और विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग फल प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है। अचार्य मम्मट के सिद्धान्त का खण्डन सम्भव नहीं है, क्योंकि वे प्रयोजन यथार्थ हैं। अतः विश्वनाथ ने उनका खण्डन भी नहीं किया है। उनकी प्रकारान्तर से उन्होंने पुष्टि की है। विश्वनाथ के प्रयोजनों की एक विशेषता यह है कि वे कवि, सहृदय और समीक्षक के लिए समान रूप से चतुर्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख करते हैं। वे शास्त्र के अधिकारी और काव्य के अधिकारी में अन्तर करते हैं। इसलिए परिणत बुद्धि और सुकुमार बुद्धि का उल्लेख करते हैं।

विश्वनाथ का विवेचन परम्परावादी भारतीय मान्यताओं के सर्वथा अनुरूप है। आध्यात्म प्रवणता समग्र प्राचीन भारतीय साहित्य में समाहित है, यहाँ भौतिकता को कभी प्राधान्य नहीं मिला है, इसलिए काव्य केवल आनन्द का साधक न बन

कर मोक्ष का भी साधक रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि मूलतः काव्य के दो प्रयोजन हैं : एक आनन्द और दूसरा विचारों का परिष्कार तथा मानवीय जीवन मूल्यों का विकास। विश्वनाथ ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय को स्वीकार कर आध्यात्मिक और भौतिक विचारधारा में सामंजस्य करने का सफल प्रयास किया है। "धर्म और मोक्ष जहाँ आध्यात्मिकता के प्रति आग्रह प्रकट करते हैं, वहाँ अर्थ एवं काम के द्वारा भौतिक तथ्यों का भी समावेश हो गया है। वस्तुतः भारतीय काव्य लौकिकता से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिकता में परिणत हो जाता है। यह मात्र अपौरुषेय तत्वों का उद्घटन कर या स्वर्ग का लुभावना वर्णन कर हमारे विचार को निष्क्रिय ही नहीं बनाता अपितु वह सौन्दर्य का चित्रण कर हमारे मन में जीवन के राग के प्रति रुझान उत्पन्न करा देता है। भारतीय साहित्य में जहाँ भी भौतिकता का प्राबल्य दिखाई दिया कि कवि उसमें झट से आध्यात्मिकता का पुट देकर उसे आदर्श रूप दे देता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य अपने में पूर्णता का अनुभव करता है।" उपर्युक्त सिद्धान्त को आचार्य विश्वनाथ ने पूर्णतः आत्मसात् किया था, इसी तथ्य को उन्होंने अपने चतुर्वर्ग द्वारा प्रकट किया है।

प्रश्न ८—आचार्य विश्वनाथ द्वारा मम्मट के "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" की समीक्षा करते हुए, उसके औचित्य पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न ९—विश्वनाथ द्वारा विभिन्न आचार्यों के काव्य-लक्षणों की समीक्षा पर विचार कीजिए।

उत्तर—आचार्य मम्मट ने काव्य लक्षण इस प्रकार लिखा है—**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि**" इस काव्य लक्षण को विश्वनाथ ने विचारणीय माना है। विचारणीय ही नहीं माना है, काव्य-लक्षण की विकट आलोचना की है, वह इस प्रकार द्रष्टव्य है।

विश्वनाथ ने लक्षण के प्रत्येक शब्द पर आपत्ति की है। सर्वप्रथम वे 'अदोषौ' पद पर चार आपत्तियाँ करते हैं।

(१) क्या सदोष काव्य, भले ही वह उत्तम ध्वनि काव्य का उदाहरण क्यों न हो, सदा ही काव्य अस्वीकृत होगा ? यदि हाँ, तो ध्वनि काव्य के उदाहरणों में भी दोष मिल जायेंगे, तो क्या वह काव्यत्व के अधिकारी नहीं होंगे। जैसे कि—

> **न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः**
> **सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।**
> **धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा**
> **स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।**

यह श्लोक ध्वनि प्रधान होने के कारण उत्तम काव्य का उदाहरण माना गया है किन्तु उसमें भी 'विधेया-विमर्श' दोष होने के कारण उसे उत्तम काव्य में स्थान

नहीं मिलना चाहिए ।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्श दोष दुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् ।
प्रत्युत ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता ।

(२) और यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि किसी रचना का जो अंश सदोष हो, उसे अकाव्य और शेष निर्दोष अंश को श्रेष्ठ काव्य कहना चाहिए, क्योंकि उस स्थिति में काव्यत्व एवं अकाव्यत्व के चक्कर में पड़कर वह रचना अपना महत्व खो बैठगी—

"ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्व एवेति चेत्तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्व—प्रयोजकः यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजकः इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात् ।

(३) प्रत्येक रचना में कोई न कोई दोष खोजा ही जा सकता है, यदि निर्दोषता काव्य का अनिवार्य तत्व माना जाय, तो काव्य मिलना ही कठिन हो जाएगा—**"एवं काव्यं प्रविरल विषयं निर्विषयं वा स्यात् ।"** और यदि **'अदोषौ'** शब्द के नञ्ज को 'ईषद्' अर्थ मानकर कहा जाय कि स्वल्प दोष युक्त शब्दार्थ काव्य है तो यह ईषद्दुष्टता काव्य का अनिवार्य तत्व बनकर महान् कवियों के निर्दुष्ट काव्य को काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर देगी । यदि **'अदोषौ'** का अर्थ **"सति सम्भवे ईषद् दोषौ"** माना जाय तो यह 'अदोषौ' विशेषण निरर्थक है—

"नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्" इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यवं न स्यात् । सति सम्भवे 'ईसद्दोषौ' इति चेत् एतदपि काव्यलक्षणेऽवाच्यम् ।"

(४) **'अदोषौ'** विशेषण इसलिए भी निरर्थक है क्योंकि दोषों का अस्तित्व रसापकर्ष पर आश्रित है । कुछ दोष अनित्य होते हैं और कुछ नित्य । यदि **'अदोषौ'** विशेषण स्वीकार कर लिया जाय तो श्रुतिकटु आदि अनित्य दोष "जहाँ दोष नहीं रहते, अथवा गुण रूप हो जाते हैं, वहाँ भी उनकी स्थिति अनुपयुक्त हो जाएगी ।"

काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते ।
अन्यथा नित्यदोषानित्य दोषत्वव्यवस्थापि न स्यात् यदुक्तं ध्वनिकृता—
श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः । इति ।[1]

---

१. निश्चय ही आचार्य विश्वनाथ के वे तर्क सूक्ष्म हैं किन्तु ये केवल पांडित्य प्रदर्शन मूलक हैं क्योंकि विश्वनाथ भी जानते हैं कि मम्मट का दोष से आशय रसापकर्ष से है—**मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्य—हतिरपकर्षः (का० प्र० ७)** साधारण दोष होने पर काव्य की हानि नहीं होती है, इस बात को विश्वनाथ ने स्वयं स्वीकार किया है—

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आचार्य मम्मट के '**सगुणौ**'[1] विशेषण के प्रयोग पर भी विश्वनाथ को आपत्ति है, उनका कहना है कि मम्मट जब स्वयं गुणों को रस धर्म मानते हैं—'**ये रसस्यांगिगनो धर्माः**। फिर काव्य लक्षण में शब्दार्थ का सगुणौ को विशेषण क्यों बनाया है। वास्तव में गुण शब्द और अर्थ के धर्म नहीं है। अतः शब्दार्थ को सगुण नहीं कहा जा सकता है। यदि उपचार से शब्दार्थ का धर्म मान भी लिया जाय, तो भी काव्य

(पिछले पृष्ठ का शेष)

कीटानुविद्धरत्नानि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

जैसे कीड़ों से खाया हुआ रत्न, रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार रसानुभूति के स्पष्ट होने पर सामान्य दोष के रहते हुए भी काव्यत्व की हानि सम्भव नहीं है। इसलिए रस विघातक प्रबल दोषों के अभाव में निर्बल दुश्रवत्वादि दोषों के होने पर भी काव्य की कोई हानि नहीं होती है। इम दशा में काव्य में प्रविरल विषय या निर्विषय कुछ भी नहीं होगा और न "न्यक्कारो ह्ययमेवः" में ही 'विधेया विमर्श' दोष होने से अकाव्यत्व ही होगा। अतः विश्वनाथ का खण्डन अकाण्डताण्डव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

१. विश्वनाथ का यह आक्षेप भी उचित नहीं है क्योंकि मम्मट ने लिखा है कि "जिस प्रकार शूरता आदि आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार काव्य में जो प्रधानरूप से (आत्मवत्) स्थिर रस के धर्म हैं, ऐसे रसोत्कर्षक धर्म ही गुण कहलाते हैं।" इस प्रकार मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं, शब्दार्थ का नहीं। गुणों को शब्दार्थ का धर्म गौणतः मानते हैं उनके निम्न वाक्य इसी बात के प्रमाण हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ ८/६६

तथा—**गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयो मता॥** ८/७१

मम्मट के 'सगुणौ' का अर्थ 'सरसौ' तथा 'गुणाभिव्यंजकौ' परवर्ती आचार्यों ने माना है। इस प्रसंग में डा० सत्यदेव चौधरी ने लिखा है—ध्वनिवादी मम्मट ध्वनि के तीन प्रमुख भेदों—वस्तुगत, अलङ्कार और रसगत ध्वनि को काव्य मानते हैं। 'सगुणौ' के 'सरसौ' अर्थ से रसगत ध्वनि का काव्यात्व तो स्वतः सिद्ध है। शेष रही दो ध्वनियाँ, उन्हें भी काव्य तभी कहना चाहिए, जब वे गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ से युक्त हों, अन्यथा नहीं। 'सरसौ' विशेषण केवल रसगत ध्वनि का ज्ञापक होता शेष दो का नहीं। इसके अतिरिक्त रसगत ध्वनि के लिए भी 'सगुणौ' का 'गुणाभिव्यंजकौ' अर्थ मानना आवश्यक है।····यदि रसध्वनि-काव्य में गुणों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है, तो गुणी भूतव्यंग में भी उसकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। शेष रहा काव्य का तीसरा भेद चित्र-काव्य-स्फुट व्यंग रहित शब्दालंकार तथा अर्थालकार, तो उसमें भी दोष साहित्य के साथ-साथ गुणाभिव्यजक शब्दार्थ को होना आवश्यक है।"·········'सगुणौ' का इतना व्यापक महत्व मम्मट को अभीष्ट था अथवा नहीं, यह अलग प्रश्न है, पर सरसौ विशेषण अपनी संकुचित अर्थ सीमा के कारण इतनी व्यापकता का द्योतक कभी न होता, यह निश्चित है। (भारतीय काव्यांग, पृ०.२३)

लक्षण में इस विशेषण का प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ उत्पन्न स्वरूप को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। स्वरूपाधान नहीं। ऐसी दशा में **'सगुणौ'** 'पद का' प्रयोग समीचीन नहीं है—"किंच शब्दार्थयोः सगुणत्व विशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य ये रसस्यांगनों धर्मा शौर्यादयः इवात्मनः" इत्यादिना तेनैव प्रतिपादित्व रसाभिव्यञ्ज कत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत तथाप्युक्तम्। तथाहि-तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा। नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति। गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्, कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणक्त्वान्यथानुप पत्यैतल्लभ्यत इति चेत्, तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति।

"ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गूणाभिव्यजकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्य-भिप्राय इति चेत् न। गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम् न तु स्वरूपाधायकत्वम्।"

इसी प्रसंग में विचार करते हुए आचार्य विश्वनाथ काव्य शरीर के रूपक की चर्चा करते हैं और आचार्य मम्मट के **अनलंकृती पुनः क्वापि** कथन पर भी प्रहार करते हैं—उनका विचार है कि—"शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा हैं। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुति कटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना के सदृश्या और उपमादिक अलंकार कटक कुण्डलादि के तुल्य होते हैं।" इस काव्यरूपक से मम्मट का 'अनलंकृती पुनः क्वापि' यह अंश स्वतः खण्डित हो जाता है। एतेन 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्त्वस्फुटालंकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्रसालंकारशब्दार्थरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात्। उसका खण्डन इस प्रकार से है—

गुणों के समान अलंकार भी केवल काव्योत्कर्ष के कारण हैं, उसके स्वरूप नहीं। विश्वनाथ यह भी स्वीकार करते हैं कि किसी रचना में यदि अलंकार स्पष्ट न भी हों, तो भी उसे काव्य मानना चाहिए किन्तु **'अनलंकृतीपुनः क्वापि'** का काव्य के लक्षण में प्रयोग होना चाहिए। विश्वनाथ ने मम्मट प्रदत्त उदाहरण—

> यः कौमारहरः स एवहि वरस्ता एवं चैत्रपक्षा—
> स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
> सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
> रेवा रोधसि वेतसितरुतले चेतः समुत्कण्ठते। इति।

को भी विचाणीय माना है। विश्वनाथ इस उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति मानते हैं और सिद्ध करते हैं कि न तो यह काव्य का लक्षण ठीक है और न उसका उदाहरण ही उपयुक्त है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—"विना कारण के जहाँ कार्य का वर्णन हो,

वहाँ विभावना अलंकार होता है।" यहाँ इस श्लोक में भी उत्कण्ठा रूप कार्य का वर्णन है किन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है उत्कण्ठा सदैव नवीन वस्तु की प्राप्ति में होती है किन्तु यहाँ कोई नवीन वस्तु नहीं है, सारी पहले उपभोग की हुई—वर, चंद्ररात्री आदि हैं। इस कारण उत्कण्ठा का कारण न होने पर भी उत्कण्ठा रूप कार्य का वर्णन है, अतः यहाँ विभावना अलंकार है। इसी प्रकार कारण के होने पर भी कार्य का अभाव जहाँ उल्लिखित हो वहाँ **'विशेषोक्ति'** अलंकार होता है। उपर्युक्त पद्य में उत्कण्ठा के अभाव की समस्त वस्तुएँ प्राप्त हैं, फिर भी उत्कण्ठा हो रही है। अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार सिद्ध होता है। इस पद्य में इन अलंकारों की सत्ता सिद्ध कर विश्वनाथ संदेहसंकरालंकार की सिद्धि करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि मम्मट का यह काव्यलक्षण वदतोव्याघात दोष से युक्त है—

अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसंकरालंकारस्य स्फुटत्वम्।

विश्वनाथ ने केवल मम्मट के काव्य लक्षण पर ही प्रहार नहीं किये हैं, मम्मट के अतिरिक्त—

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

तथा **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'** इन काव्य लक्षणों का भी खण्डन किया है। मम्मट के काव्य लक्षण के विरोध में प्रदत्त समस्त तर्कः **'अदोषं गुसवत्'** लक्षण में घटित हो जाते हैं। ध्वनिकार के विरोध का सार इस प्रकार है—

" 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह जो ध्वनिकार ने कहा है—वहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक इन सबकी ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानते हो? या केवल रसादि की ध्वनि को ही? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पहेली आदि में—जहाँ वस्तु ध्वनित होती है—काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण का दोष होता है। दूसरा पक्ष माने तो हमें स्वीकार है। रसादि ध्वनि को हम भी काव्यात्मा मानते हैं।"

यदि केवल रसादि ध्वनि को काव्यात्मा मानते हो तो "श्वसूरत्र०" इत्यादि स्थलों पर—जहाँ वस्तुमात्र व्यंग्य है—काव्यत्व का व्यवहार कैसे होगा? विश्वनाथ कहते हैं कि यहाँ भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। और यदि यह न मानो तो—"देवदत्त ग्राम जाता है" इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेंगे, क्योंकि इस वाक्य से भी देवदत्त के अनुचर का पीछे-पीछे जाना व्यंग्य है। यदि कहो कि यह भी काव्य ही सही—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है।" यदि सरस वाक्य ही काव्य होते हैं तो रघुवंशादि प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत अनेक नीरस पद्य हैं, वे काव्य न रहेंगे? इसका उत्तर विश्वनाथ देते हुए कहते हैं कि—

रसवत्पद्यान्तर्गतनारसपदानमिव पद्य रसेन प्रबन्ध रसेनैव तेषां रसव-तांगीकारात्।

इसी प्रसग में विश्वनाथ वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस कथन का भी विरोध करते हैं, क्योंकि रीति का तो संघटना रूप है—और संघटना शरीर के अंगविन्यास के तुल्य है—वह आत्मा नहीं हो सकती—आत्मा शरीर से भिन्न होता—**'रीतेः संघटनाविशेषत्वात् संघटनायाश्चावयव संस्थानरूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् ।'**

ध्वनिकार ने यह जो कहा है कि—"सहृदयों से श्लाघ्य जो अर्थ काव्य का आत्मा व्यवस्थापित किया है, उनके दो भेद हैं—एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान ।" इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा कहना, ध्वनिकार के **"काव्यस्यात्मा ध्वनिः"** इस अपने ही कथन के विरुद्ध है, अतः उसे स्वतः निरस्त समझना चाहिए—

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मतौ ।।

अत्र वाच्यात्मत्वं "काव्यस्यात्माध्वनि—इति स्ववचन विरोधादेवापास्तम् ।"

आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार आचार्य मम्मट, भोज, आनन्दवर्धन, वामन, कुन्तक सभी प्रसिद्ध आचार्यों के काव्यलक्षणों की समीक्षा कर हेय सिद्ध किया है किन्तु वास्तविकता यह है कि यह केवल अपनी विद्वत्ता को प्रकट करने और बाल की खाल निकालने का ही कार्य है, अन्यथा मम्मट का काव्यलक्षण अनेक विशेषताओं से युक्त है ।

'शब्दार्थौ' पद का व्यवहार मम्मट के अतिरिक्त—भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, प्रतापरुद्र, विद्याधर आदि आचार्यों को स्वीकार्य है, अतः बहुजन समाहृत 'शब्दार्थौ' पद का प्रयोग उचित ही है । 'सगुणौ' पद का प्रयोग अत्यंत सार्थक है क्योंकि मम्मट गुणों को इसका धर्म मानते हैं "ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः" शब्दार्थ का नहीं—वे गौणवृत्ति से ही शब्दार्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हैं, जैसा कि उनके इस कथन से सिद्ध है—**गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयो मताः"** [८/७१] । मम्मट के **"अनलंकृती पुनः क्वापि"** से अलंकारों की नितान्त आवश्यकता सिद्ध नहीं होती है और उसके अभाव में भी काव्य सम्भव है, होने पर तो कहना ही क्या । मम्मट की ये मान्यताएँ उनके उदात्त स्वभाव की परिचायक हैं ।

मम्मट का काव्य लक्षण परवर्तीकाल में परम समादृत रहा है, उसका संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों ने पर्याप्त अनुकरण किया है । मम्मट के काव्यलक्षण पर आक्षेपों की भरमार होना उनके काव्य लक्षण की मान्यता और लोकप्रियता का प्रमाण है । विश्वनाथ जैसे आलोचक प्रत्येक युग में मिलते हैं और ये आलोचक ही किसी रचना की लोकप्रियता के कारण होते हैं । आशय यह है कि मम्मट का काव्यलक्षण परम्परा पुष्ट और सर्वाधिक मान्य रहा है ।

प्रश्न १०—आचार्य विश्वनाथकृत काव्य-लक्षण की समीक्षा कीजिए ।

प्रश्न ११—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की स्थापना कीजिए ।

प्रश्न १२—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का लक्षण नहीं, अपितु काव्य की

प्रशस्ति है।" विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, भोज, वामन, उद्भट, महिम भट्ट जैसे प्राचीन आचार्यों के काव्य लक्षणों का खण्डन कर अपने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** काव्य-लक्षण को प्रस्तुत किया है। इस लक्षण में विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। "रस युक्त वाक्य ही काव्य है"। रस को काव्य की आत्मा मान कर विश्वनाथ ने रस के प्रति परम्परागत आदर व्यक्त किया है। विश्वनाथ से पूर्व शौद्धोदनि ने 'अलंकार शेखर' में एवं चण्डीदास ने 'काव्य प्रकाश दीपिका' में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था :—

काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुत सुखविशेष कृत[1]।

तथा— **आस्वाद जीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्[2]।**

विश्वनाथ ने रस को सबसे प्रधान होने के कारण ही काव्य की आत्मा कहा है, क्योंकि 'रस के बिना काव्यत्व नहीं होता है। यहाँ रस शब्द का अर्थ शृंगारादि अपेक्षित नहीं है अतः रस्यत इति रसः इस योगार्थ द्वारा जो आस्वादिता हो उस सबको रस कहते हैं—इससे रस, रसाभास भाव और भावाभासादि का भी ग्रहण होता है—

"रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भाव तदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।"

विश्वनाथ ने अपने लक्षण में भरत से लेकर चली आती हुई रस के विवेचन की परम्परा को ही गति दी है। किन्तु विश्वनाथ का यह लक्षण सर्वथा निर्दोष नहीं है। यह बौद्धिक न होकर भावपरक है। मम्मट ने **सगुणों** के द्वारा जिस रस का संकेत किया था, विश्वनाथ ने उसे पूर्ण स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है।

विश्वनाथ के लक्षण को कुछ आचार्यों ने मम्मट के लक्षण की अपेक्षा अधिक आंतरिक माना है और कुछ आचार्यों ने काव्य लक्षण न कहकर काव्य की प्रशस्ति मात्र कहा है "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहने से किसी विशिष्ट काव्य कृति की अनुभूतियों के प्रकाशन की ध्वनि निकलती है।"[3] डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि "यदि विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण को 'काव्य' विषय का ध्वनि-काव्य कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं।"[4] इसी प्रसंग में विचार करते हुए डा० सिंह ने लिखा है कि—"रसात्मक वाक्य काव्य है यह काव्यलक्षण लक्षणकार विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में अविकल रूप में प्रतिफलित होता नहीं प्रतीत होता। आचार्य मम्मट ने एक विशिष्ट

१. अलंकार शेखर, पृ० २।

२. काव्य प्रकाश दीपिका, पृ० १३।

३. भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० २५।

४. साहित्य-दर्पण भूमिका, पृ० ६।

प्रकार के शब्द और अर्थ शब्दार्थ युगल को काव्य कहा है। इस विचार स्रोत के क्रमिक प्रवाह में काव्य-प्रकार, शब्दार्थ स्वरूप, दोष-दर्शन, गुण-वर्णन, अलंकार योजना आदि विषयों की धारायें स्वभावतः प्रवाहित होती दिखाई दिया करती हैं। किन्तु रसात्मक वाक्यरूप काव्यवाद के प्रवर्तक आचार्य का विचार स्रोत 'वाक्य' की भाषाशास्त्र मम्मट व्याख्या में ही विच्छिन्न हो जाता है। यह तो ठीक है कि योग्यता, आकांक्षा, आसत्तियुक्त पदोच्चय ही 'वाक्य' है और वैसा वाक्योच्चय ही महाकाव्य है। किन्तु ऐसे वाक्य और ऐसे महाकाव्य तो प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत हुआ करते हैं। इन्हें तो काव्य कहा नहीं गया? और जब तक आकांक्षा और योग्यता और आसत्ति को **'रसाभिव्यंजनात्मकता'** की विशेषता से विशिष्ट न किया जाय तब तक **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की परिभाषा क्योंकर परिष्कार की ओर बढ़ने लगी? पता यही चलता है कि पहले वाक्य की रसात्मकता की ही बात साहित्यदर्पणकार को कहनी है। यही बात तो **"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"** इस काव्य-विधायक आचार्य ने कही थी। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे न माना।"[1]···· निर्दुष्ट, गुणयुक्त तथा अलंकृत (किंवा, यथासंभव अनलंकृत भी) शब्दार्थ युगल काव्य है। इस कथन में रसात्मक वाक्य रूप काव्य की रचना-प्रक्रिया पर तो प्रकाश अवश्य पड़ रहा है किन्तु **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** इस उक्ति से काव्य का रहस्य अनिभिन्न-सा ही रह जाता है।"[2]

विश्वनाथ के काव्यलक्षण में अतिव्याप्ति दोष हैं क्योंकि इनमें काव्य के समस्त तत्व समाहित नहीं हो पाते हैं। काव्य में वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूत व्यंग, चित्रकाव्य एवं रसादि अलंकारों को 'रस' में कदापि समाहित नहीं किया जा सकता है।

इस लक्षण को अस्वीकार करने पर उपर्युक्त ध्वनि विभाजन भी निरर्थक हो जाएगी। गुणीभूत व्यंग्य चित्रकाव्य तथा रसवदादि को मानने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि जब रस ही काव्य की आत्मा है तब काव्य में इनकी आवश्यकता ही क्या? चित्रकाव्य में तो रस का सर्वथा अभाव ही रहता है। अतः यह लक्षण रस का समर्थक होने पर भी अव्याप्ति दोषग्रस्त है।

रस के अतिरिक्त समस्त काव्य तत्व गौण है, यह भी स्वीकार्य नहीं है।

'वाक्यं' पदोच्चय का नाम है, अतः विश्वनाथ शब्दार्थ की अपेक्षा शब्द को ही काव्य शरीर मानते हैं, यह भी उचित नहीं है।

'रस' शब्द भी गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त तथ्यों के साथ ही यह भी विचारणीय है कि परवर्ती आलंकारिक

---

१. साहित्य-दर्पण भूमिका, पृ० २३।

२. वही, पृ० २४।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी इस काव्य लक्षण का खण्डन किया है। उनका विचार है कि—'रसात्मक वाक्य को वाक्य मानना युक्तियुक्त नहीं है। यदि इस लक्षण को काव्य मान लिया जाय तो जिन काव्यों में केवल वस्तु वर्णन या अलंकार वर्णन है वे काव्यत्व नहीं प्राप्त कर सकते; इस दृष्टि से **"पथिक नात्र संस्तरमस्ति, महिला सहस्रा-भरिते"** इत्यादि पद्यों में केवल वस्तु व्ययंग्य एवं अलंकार व्यंग्यगत चमत्कार हैं वे काव्य नहीं कहला सकते। किन्तु इन्हें अकाव्य भी नहीं ठहराया जा सकता है।

यदि इस प्रकार की इष्टापत्ति की जायगी तो चिरकाल से प्रवहमान महाकवियों की व्यवहारिक परम्परा ही उच्छिन्न हो जाएगी। उन कवियों ने जल प्रवाह, वेग पतन: भ्रमण एवं बन्दरों तथा बालकों की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। क्या उसे अकाव्य कहा जा सकता है। यदि ऐसा कहा जाय कि वे सब काव्य हैं क्योंकि उनमें किसी न किसी रूप में रस स्पर्श प्राप्त होता है अत: वे काव्य की श्रेणी में आ जाएँगे। वे वर्णित विषय किसी न किसी रस के उद्दीपन विभाव के ही रूप तो हैं। अत: उनका रस के साथ तो सम्बन्ध हो ही गया। इसका उत्तर देते हुए पंडितराज कहते हैं कि ऐसा रस स्पर्श काव्य की संज्ञा के योग्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में **"गौश्चरति मृगो धावति"** आदि वाक्य भी काव्य हो जाएँगे एवं संसार के सभी काव्य एवं महा-काव्य रस के स्पर्शित हो जाने के कारण काव्य कहाने लगेंगे। "इसीलिए रसात्मक वाक्य को काव्य मानना युक्तिसंगत नहीं है"—यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पण निर्णीतम्, तन्न वस्त्वलंकार प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टाऽऽपत्तिः। महाकवि सम्प्रदास्याकुलीभावप्रसंगात। तथा च जल प्रवाह वेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपि बालादि विलसितानिच। न च तत्रपि कथञ्चित परम्परया रसस्पर्शोऽस्सेवेति वाच्यम ईदृश रसस्पर्शस्य 'गौश्चलित' 'मृगोधावति' इत्यादावतिप्रसक्त-त्वेना प्रयोजकत्वात् अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यव्यतमत्वादिति दिक ॥[1]

विश्वनाथ ने अपने काव्य लक्षण की व्याख्या के लिए काव्य के अपकर्षक तत्व दोष बतलाए हैं—दोषास्तस्यापकर्षका जैसे काणत्व खज्जत्वादि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसमें रहने वाले आत्मा को भी दूषित कर देते हैं उसी प्रकार काव्य के आकर्षक अपुष्टार्थत्वादि दोष काव्य के आत्म तत्व रस को दूषित करते हैं।

इसी प्रकार गुणों का स्वरूप भी इसी परिच्छेद में बतलाया है—गुण, अलंकार और रीतियाँ काव्य के उत्कर्ष के कारण हैं—"उत्कर्ष हेवतः प्रोक्तागुणालंकाररीतयः"। जैसे शौर्यादि गुण कटक कुण्डलादि अलंकार और अंगरचनादिक मनुष्य के शरीर का उत्कर्ष सूचित करते हुए उनके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं इसी प्रकार काव्य में माधुर्यादि गुण उपमादिक अलंकार और वैदर्भी आदिक रीतियाँ स्थानीय शब्द और अर्थ की सूचना करते हुए आत्मभूत रस का उत्कर्ष करते हैं। शौर्यादि जैसे मनुष्य के

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन।

उत्कर्षक हैं वैसे ही माधुर्यादि काव्य के उत्कर्ष हैं—"गुणाः शौर्यादिवत अलंकाराः कटक कुण्डलादिवत रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत, देहद्वारणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्य स्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते।"

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य लक्षण की व्याख्या रूप में ही प्रथम परिच्छेद में लिखकर अपने काव्य लक्षण की कमजोरी को व्यक्त कर दिया है। जब रसात्मक वाक्य काव्य है यदि वह सर्वदा निर्दुष्ट होता तो विश्वनाथ को दोष और गुण अलंकार एवं रीति को काव्य का उत्कर्ष करने की आवश्यकता नहीं थी। यह इस बात का प्रमाण है कि विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण की कटु आलोचना कर ज्यादती की थी। मम्मट ने भी **अदोषौ सगुणौ** तथा **अनलंकृती पुनः क्वापि** लिखकर इसी तथ्य का संकेत किया था अतः विश्वनाथ की आलोचना को 'वदतो व्याघात' ही कहा जा सकता है। डा० सत्यव्रत सिंह ने इस प्रसंग में लिखा है कि "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" इस काव्य लक्षण के साथ जब तक 'दोषास्तस्यापकर्षका' तथा 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकार **रीतय**' की कड़ी न जोड़ी जाय तब तक साहित्य-दर्पण की विशद रचना का सूत्र नहीं मिल सकता। इसीलिए वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने काव्य लक्षण वाक्य में ही इन्हें भी जोड़ दिया है। किन्तु एक बात यहाँ खटकती है और वह यह है कि जब रसात्मक वाक्य बन गया और वह काव्य हो गया तब गुण अलंकार और रीति के द्वारा उसका उत्कर्षवर्धन होने पर वह 'काव्य विशेष' क्यों न कहा जाय? मम्मट का काव्य प्रकाश तो उनके काव्य लक्षण वाक्य की ही पूर्वा पर अनुस्यूत महाव्याख्या है—"इस धारणा से ही विश्वनाथ कविराज ने अपना भी काव्य लक्षण वाक्य रचा था और इसी विश्वास से रचा था जिसमें साहित्य-दर्पण की रूप रेखा उसी में (लक्षण वाक्य में) झलक जाय। किन्तु कुछ चूक अवश्य हो गई है। रसात्मक वाक्य के बन जाने पर और उससे काव्य रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर दोष उसका क्या करेंगे? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर दोषास्त स्यापकर्षका कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं प्रतीत होता।"

विश्वनाथ ने गुण और रीति को अलग-अलग कहकर भी भूल की है क्योंकि ध्वनि सिद्धान्त में इन दोनों का एकात्म्य सिद्ध हो चुका है। यही नहीं अलंकार और गुण को एक श्रेणी का मानना भी तर्क संगत प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ का काव्य लक्षण निर्दुष्ट नहीं है वह तो एक प्रकार से काव्य की प्रशस्ति प्रतीत होता है।

० ० ० ०

द्वितीय-परिच्छेद

वाक्य-स्वरूप-निरूपण

१. वाक्य स्वरूप निरूपण

२. शब्द शक्ति विवेचन

अभिधा

लक्षणा

व्यंजना

३. संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासुच

४. लक्षणा के भेद

५. व्यंजना

शाब्दी व्यंजना

आर्थी व्यंजना

प्रश्न १३—विश्वनाथ कविराज द्वारा वर्णित वाक्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर—योग्यता, आकाँक्षा और आसक्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं—"वाक्यं स्याद्योग्यता कांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।" इस प्रकार पदसमूह का नाम वाक्य है। पदसमूह की कविराज ने तीन विशेषता अथवा गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणों से सम्पन्न पद समूह ही वाक्य होने की योग्यता रखता है, वे गुण हैं **योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति**। इन तीनों का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है।

योग्यता—एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने में बाधा का न होना योग्यता है—"योग्यता पदार्थानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः" आशय यह है कि जो पदार्थ जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखना चाहता है उसमें किसी प्रकार की बाधा का न होना ही उसकी योग्यता है। उदाहरण के लिए जैसे 'वह पानी से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता है। पानी में सींचने की योग्यता है। किन्तु यदि हम कहें कि

'वह आग से सींचता है' तो सिंचन की क्रिया में यहाँ बाधा है। आग सींचने का कार्य न कर जलाने का कार्य करती है उसमें जलाने की क्षमता है। विश्वनाथ कविराज ने इस तथ्य का संकेत इस प्रकार किया है—'पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे वह्निना सिञ्चति इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्।'

आकांक्षा—वाक्यार्थ को पूर्ण करने के लिए किसी अन्य पद की जिज्ञासा का होना आकांक्षा है किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आक्षांका है, जैसे "देवदत्तो ग्रामं गच्छति" यह पूर्ण वाक्य है। इसमें किसी पद की आकांक्षा नहीं है। और यदि हम कहें—"देवदत्तो ग्रामम्" तो इस वाक्य को 'गच्छति' की आकांक्षा है। इस गच्छति शब्द के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं है—"आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसान-विरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूप।" यदि आकांक्षा शून्य वाक्य को वाक्य मानेंगे तो गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी इत्यादि पदसमूह भी वाक्य हो जायेंगे "निराकांक्षस्य वाक्यत्वे "गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्।"

आसत्ति—प्रकृत पदार्थ की उपस्थिति में व्यवधान का अभाव आसक्ति है। आसत्तिर्बुद्धयविच्छेदः। अर्थात् "एक पद के उच्चरित होने पर अन्य अपेक्षित पद के उच्चरित होने में किसी प्रकार का बिलम्ब न होना।"

यह व्यवधान दो प्रकार का होता है—**काल** और **अनुपयुक्त** शब्द द्वारा। पहले प्रकार का उदाहरण है—एक पद के कहने के बाद अन्य पद दूसरे दिन कहना—'देवदत्तः गच्छति' देवदत्तः आज कहना तथा गच्छति कल कहना। अर्थात् अधिक समय का लगना काल व्यवधान है। इस स्थिति में दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। "बुद्धि विच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात्।" अनुपयुक्त शब्द का व्यवधान वहाँ होता है जहाँ प्रकरण विरोधी शब्द का बीच में प्रयोग हो, जैसे 'गिरिर्भुक्तमग्निमान देवदत्तेन' पर्वत भोजन किया ऊँचा है देवदत्तने। यहाँ दो वाक्य हैं दोनों का ही अर्थ स्पष्ट नहीं है गिरि का सम्बन्ध अग्निमान से है उसके बीच में प्रकृत का अनुपयोगी भुक्तम पद आ गया है। इसी प्रकार देवदत्तेन के पूर्व अनुपयुक्त 'अग्निमान' आ गया है अतः यहाँ आसक्ति का अभाव है अतः ये वाक्य नहीं है अतः स्थिति यह है कि वाक्य के लिए पदों का परस्पर सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

इसीलिए योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त पदसमूह का ही नाम वाक्य है। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने रसमंजरी में लिखा है कि—

निष्कर्ष यह है कि वाक्य में योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि (आसक्ति) का होना आवश्यक है।

प्रश्न १४—आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शब्द शक्तियों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न १५—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का सामान्य परिचय दीजिए।

उत्तर—शब्दों के विषय में विचार करने वाले तत्व को **शब्द शक्ति** कहते हैं। अथवा शब्दों के अर्थ-बोध को कराने वाले अर्थ-व्यापार का नाम 'शब्दि शक्ति' है। "शब्द की शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। कारण जिसके द्वारा कार्य सम्पादन करता है, उसे व्यापार का कहा जाता है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाक का घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा बनता है इसी तरह अर्थ का बोध कराने में 'शब्द' कारण है और अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं। आचार्यों ने इन्हीं को 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' का नाम दिया है। मम्मट ने व्यापार शब्द का प्रयोग किया है तो विश्वनाथ ने 'शक्ति' का।"

अर्थ तीन प्रकार का है, वाक्य, लक्ष्य और व्यंग्य "अर्थो वाच्यश्च, लक्ष्यश्च व्यंयश्चेति त्रिधा मतः।" इनके स्वरूप का उल्लेख करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं कि—जो अर्थ अभिधा से बोधित हो वह वाच्य, जो लक्षणा से ज्ञात हो वह लक्ष्य और व्यंजना से सूचित हो वह व्यंग कहा जाता है इन्हीं के आधार पर तीन शब्द की शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा और व्यंजना हैं—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥ (२१३)

अभिधा—साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की पहली या आद्या शक्ति का नाम अभिधा है—तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा चूँकि साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्य होता है अतः उस मुख्य अर्थ का बोध कराने वाले शब्द व्यापार को ही अभिधा कहते हैं।

आचार्य विश्वनाथ इसी अभिधा को सोदाहरण समझाते हुए कहते हैं कि "किसी बड़े आदमी ने छोटे आदमी (नौकर आदि) से कहा कि 'गौ लाओ' और वह इस वाक्य को सुनकर, एक गौ को ले आया, तो उन दोनों के पास बैठा हुआ बालक—जिसे अब तक इन पदों के अर्थों का कुछ ज्ञान नहीं है—पहले पहल यही समझता है कि 'गौ लाओ' इस समुदाय का तात्पर्य, इस जीव को ले आना ही है। इसके बाद 'गौ बांध दो' 'घोड़ा लाओ' इत्यादि वाक्यों के सुनने पर की गई क्रियाओं को देखकर वह आवापोद्वाप (अन्वय, व्यतिरेक) के द्वारा 'गौ' बांधो' 'लाओ' आदि पदों के संकेत को समझता है, जब वह बालक देखता है कि जहाँ 'गौ' पद बोला गया है, वहीं यह जीव उपस्थित हुआ है, अन्यत्र नहीं, तो यह समझ लेता है कि **'गौ पद'** का वाच्य यही जीव है। इसी प्रकार **'आनय'** आदि क्रियाओं का लाना आदि अर्थ निर्धारित करता है। इसी प्रकार शक्ति ग्रह होता है—उत्तम बृद्धेन मध्यम वृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयन प्रवृत्तमुपलभ्य वालोऽस्य वाक्यस्य सास्नादि मत्पिण्डानयनमर्थः इति प्रथमं प्रतिपद्यते। अनन्तरं च 'गां बधान, अश्वमानय' 'इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गो शब्दस्य' 'सास्नादि' मानर्थः आनयनपदस्य च आहरणमर्थः 'इति संकेतमवधारयति।'

कभी-कभी पहले से विदित पद के साहचर्य से भी शक्तिग्रह होता है—जैसे यहाँ 'मधुकर' का अर्थ शहद बनाने वाली मक्खी है, या भ्रमर यह संदेश 'कलम' पद के साथ होने से दूर होता है। कमल में भ्रमर के ही रसपान से तात्पर्य है, यह बात कमल' पद के साहचर्य से विदित होती है, अतः वहाँ प्रसिद्धार्थक पद के सान्निध्य से मधुकर पद का शक्ति ज्ञान होता है—"क्वचिच्च प्रसिद्धार्थपदसमाभिहारात्। यथा 'इह प्रभिन्न कमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवति' इत्यत्र।"

कभी आप्त पुरुष के उपदेश से भी अर्थ का ज्ञान होता है, जैसे किसी बालक के पिता आदि ने कहा कि यह घोड़ा है तो उसे घोड़ा पद की शक्ति उस जीव में विदित हुई—क्वचिदाप्तोपदेशात्। यथा 'अयमश्वशब्दावाच्यः' इत्यत्र।

उपर्युक्त उपायों से ज्ञात हुए मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शब्द की प्रथम शक्ति अभिधा कहलाती है—तंत्र च संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नामे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द को सुनते ही उसका अर्थ विदित हो तो उसे मुख्य अर्थ कहते हैं और इस मुख्य अर्थ का बोध कराने के कारण अभिधा नामक शब्दशक्ति को मुख्या या अग्रिमा शब्द शक्ति कहा जाता है।

लक्षणा—शब्द का अर्थ अभिधा मात्र में ही सीमित नहीं रहता है। जब मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा आती है, तब रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं तथा उसको व्यक्त करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा है—मुख्यार्थभिन्न-भिन्नार्थसूचकः लक्ष्यार्थः। आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रुढ़े प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (२/५)

अर्थात् अभिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोध न किया जाय वह मुख्यार्थ कहाता है, इसका बोध होने पर अर्थात् वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर, रूढ़ि (प्रसिद्धि) के कारण अपना किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान, जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शक्ति अर्पित अर्थात् कल्पित (अमुख्य) है।

इस लक्षण के अनुसार लक्षणा के व्यापार के लिए तीन आवश्यक तत्व हैं:—(१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग (सम्बन्ध) और (३) रुढ़ि या प्रयोजन।

मुख्यार्थ का बाध—जब मुख्य अर्थ की प्रतीत में बाधा पड़ती है अथवा यह ज्ञात हो कि वक्ता जिस अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, वह मुख्यार्थ के द्वारा व्यक्त नहीं होता तब उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सम्बन्ध—मुख्यार्थ के बाधित होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसका मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है। यही मुख्यार्थ का योग है।

रूढ़ि का प्रयोजन—रूढ़ि का अर्थ है प्रसिद्धि, अर्थात् किसी विशेष प्रकार से कहने का ढंग या किसी अभिप्राय विशेष के कारण वक्ता के किसी विशेष (लाक्षणिक) अर्थ को व्यक्त करना।

आचार्य विश्वनाथ ने लक्षण को स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण दिये हैं—"कलिंगः साहसिकः कलिंग साहसी है। यहाँ कलिंग व्यक्ति न होकर देश का नाम है, अतः मुख्यार्थ में बाधा है। साहसी व्यक्ति होता है देश नहीं। अतः यहाँ कलिंग शब्द में लक्षणा है, उसका लक्ष्यार्थ है कलिंग का रहने वाला। विश्वनाथ ने दूसरा उदाहरण दिया है 'गंगायां घोषः' गंगा में गाँव है—यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है, गंगा में गाँव होना सम्भव नहीं है क्योंकि वह जलधारा में बह जायगा, अतः यहाँ मुख्यार्थ बाध है। मुख्यार्थ बाध होने पर इसका अर्थ है निकटता या समीपता, अर्थात् गंगा के किनारे गाँव है। इस अर्थ में मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का योग है। "गंगा में गाँव है" यह वाक्य वक्ता विशेष प्रयोजन से कहता है, वह प्रयोजन है गाँव की शीतलता एवं पवित्रता का बोध कराना—'कलिंगः साहिसक, इत्यादौ कलिंगादि शब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभावन्यया शब्द शक्त्या स्व संयुक्तान्पुरुषादी प्रत्याययति, यथा च "गंगायां घोषः" इत्यादौ गंगादि शब्दो जलमयादिन्रूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभव-न्स्वस्य सामीप्यादि सम्बन्ध संबंधिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दास्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद् भाविता वा शक्तिलंक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतु रूढ़िः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गंगा-तटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वा तिशमस्य बोधन रूपं प्रयोजनम्।

हेतु के बिना यदि इच्छारूप लक्षणाशक्ति अर्थ बोधन करने लगे तो अनेक स्थलों पर अतिव्याप्ति होगी, अतः कारिका में 'रूढ़े प्रयोजनाद्वाऽसौ' का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि लक्षणा में रुढ़ि या प्रयोजन का होना आवश्यक है।

व्यंजना—जब अभिधाशक्ति अर्थ बतलाने में असमर्थ हो जाती है, तो लक्षणा के द्वारा अर्थ बतलाने की चेष्टा की जाती है किन्तु कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनकी प्रतीत अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती है। इस स्थिति में एक तीसरी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। आशय यह है कि अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के अपना-अपना कार्य कर शान्त हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार व्यंजना का स्वरूप इस प्रकार है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।। (२/१२-१३)

अभिधा एवं लक्षणा शब्द की शक्तियाँ हैं किन्तु व्यंजना का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ दोनों से है।

विश्वनाथ अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या वृत्ति के बाद भी चौथी वृत्ति की आवश्यकता अनुभव करते हुए कहते हैं कि "शब्द, बुद्धि और कर्म इनमें विराम के अनन्तर फिर व्यापार नहीं होता।''''एक शब्द एक बार ही व्यापार करता है, अतएव अपना-अपना अर्थ उपस्थित करके अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यार्थ नामक शब्द को तीन वृत्तियों के उपक्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा और अर्थ बोधित होता है वह व्यंजना नामक शब्द शक्ति है—'शब्द बुद्धि कर्मणां विरभ्य व्यापाराभाव:' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थ बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिव्यंजन ध्वनन गमन प्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यंजना नाम।" उदाहरण के लिए यह वाक्य दृष्टव्य है :—"गङ्गायां घोष: गंगा में गाँव है किन्तु गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। अत: यहाँ अभिधा शक्ति अपना अर्थ गंगा के बीच में गाँव है, यह बतलाकर विरत हो गयी, तदनन्तर लक्षणा से यह आशय निकला कि 'गंगा के तट पर गाँव है।' कोई शक्ति अर्थ से अधिक अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती है। अत: वक्ता के अभिप्राय गाँव की पवित्रता एवं शीलता को व्यक्त करने के लिए तीसरी या चौथी शक्ति की कल्पना नितान्त अपरिहार्य है और तीसरा अर्थ व्यंजना शक्तिके द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार 'गंगा में गाँव है।' इस उदाहरण में शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यंजना शक्ति से ही सम्भव है।"

तात्पर्यावृत्ति—शब्द की शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना प्रसिद्ध हैं। शब्द भी तीन प्रकार के हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। इनके तीन अर्थ: वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं :—

वाच्योऽर्थोभिधया वोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत:।
व्यङ्ग्यों व्यंजनया ता: स्युस्तिस्त्र: शब्दस्य शक्तय:॥

मीमांसक कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायी इन तीन शब्द शक्तियों के अतिरिक्त एक चौथी शब्द शक्ति तात्पर्यार्थ भी मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है। किन्तु उस अर्थ के अतिरिक्त आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर इन पदों से एक विशिष्ट अर्थ व्यक्त होता है। अत: सम्पूर्ण वाक्य से उत्पन्न अर्थ जिस शब्द शक्ति या वृत्ति के द्वारा जाना जाता है, उसे तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इसके विषय में लिखा है कि श्री कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक पदों से पृथक् पृथक् उपस्थित पदार्थों के, कर्त्तत्व कर्मत्व आदि रूप से परस्पर अन्वय [सम्बन्ध] के बोधन के लिए, वाक्य में तात्पर्य नामक शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।

इस कारिका की वृत्ति में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है : "अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरमाद् वाक्यार्थरूपस्थ पदार्थान्वस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः तदर्थश्च तात्पर्याथः । तद् बोधकं च वाक्यमित्य भिहितान्वयवादिनां मतम् । अर्थात् "अभिधाशक्ति के एक-एक पदार्थ को अलग-अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर संबद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप देने वाली तात्पर्यनामक वृत्ति (शक्ति) है उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ ही तात्पर्यार्थ कहलाता है और उसका बोधक वाक्य होता है । यह अभिहितान्वयवादियों का मत है ।"

इस विषय में दो मत हैं एक अभिहितान्वयवादियों का तथादूसरा अन्विताभिदानवादी मीमांसकों का । इन दोनों मतो के अभिप्राय को समझने के लिए 'अभिहितान्वय' तथा 'अन्विताभिधान' शब्दों का अर्थ समझाना आवश्यक है ।

'अभिहितान्वय' शब्द का का अर्थ है—शब्दों के द्वारा कहे गये अर्थों का परस्पर अन्वय—'अभिहितानाम् पदार्थानामअन्वयः' अथवा 'अभिहितानां स्व स्व वृत्या (अभिधया, लक्षणया, व्यंजनया) पदैरूपस्थितानामर्थानामन्वय इति वादिनां भाट्टमीमांसकानां मतम्' अर्थात् अभिधा आदि वृत्तियों से उपस्थित पदों का वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय होता है । तदुपरान्त एक अर्थ की प्रतीति होती है, यह अभिहितान्वयवाद है । आशय यह है कि सबसे पहले विभिन्न वृत्तियों की सहायता से पद उपस्थित होते हैं। इन पदों का अपना विशिष्ट अर्थ हुआ करता है–'घटं करोति' वाक्य में 'घट् अम् करोति' क्रमशः संज्ञावाचक, कर्मवाचक तथा क्रियावाचक पद हैं । किन्तु जब तीनों को एक रूप 'घटं करोति' लिखते हैं, तब समुदाय रूप में एक नवीन अर्थ ज्ञात होता है ।

इस प्रकार उपस्थित पदार्थों से प्रदार्थ की प्रतीति होती है फिर उनका परस्पर अन्वय होकर जो एक अर्थ अभिव्यक्त है, वह तात्पर्यार्थ ही है । अतः आकांक्षा, योग्यता तथा संन्निधि के सहयोग से अभिधा आदि वृत्तियों से जो एक नवीन अर्थ उपस्थित होता है, वह अभिहितार्थ है। अभिहित (उक्त) पदार्थों का अन्वय ग्रहण करने के कारण यह मत अभिहितान्वयवाद कहलाता है । आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय में लिखा है—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पवार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।

अर्थात् कुमारिलभट्ट प्रभृति मीमांसक पदों से पृथक्-पृथक् उपस्थित पदार्थों के कर्त्तृत्व कर्मत्व आदि रूप से परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) के बोधन के लिए, वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं तथा वाक्य को तात्पर्य बोधक मानते हैं—"अभिधाया एकैक पदार्थबोधन विरमाद वाक्यार्थ—रूपस्य पदार्थान्वियस्य बोधिका तात्पर्य नाम वृत्तिः तदर्थश्च तात्पर्यार्थ तद्-

बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।" आशय यह है कि अधिधाशक्ति एक-एक पदार्थ का अलग-अलग बोध कराने के पश्चात् हो जाती है, किन्तु उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर संबद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप तात्पर्यावृत्ति प्रदान करती है। उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ ही तात्पर्यार्थ कहलाता है।

प्रभाकर गुरु आदि का मत इससे भिन्न है—उसके मत को अन्विताभिधानवाद कहा जाता है—इस मत में अभिधाशक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति ही नहीं होती अपितु अन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है। इनका आशय यह है कि—सर्वप्रथम पद अन्वित होते हैं और बाद में विशिष्ट अर्थ वाक्यार्थ को व्यक्त करते हैं, अतः इस वाद का नाम 'अन्विताभिधान' है—"पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्वि शिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी।" इस मत में वाच्य ही वाक्यार्थ है। इस मत के आचार्य अभिहितान्वयवादियों के समान शब्दों के स्वतन्त्र अर्थ पर विश्वास नहीं करते हैं अपितु अन्वित पदार्थों का ही अभिधावृत्ति से ज्ञान होता है अतः इनके मत में तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, अभिधावृत्ति ही इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ है।

आचार्य विश्वनाथ तात्पर्यावृत्ति को स्वीकार करते हैं, इसीलिए वे पद का लक्षण लिखते समय "अनन्वितैकार्थबोधकाः" लिखते हैं, वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः" अनन्वित अर्थ की उपस्थिति अभिहितान्वयवादी ही मानते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ध्वनिवादी हैं, उन्हें व्यंजनावृत्ति की सत्ता पूर्णतः स्वीकार है फिर भी तात्पर्यावृत्ति को भी स्वीकार कर लेते हैं।

प्रश्न १६—"संकेतों गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च" के अनुसार संकेत गृह का निर्धारण कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा को मानते हुए उसे शब्द की प्रथम शक्ति माना है। जिस शब्द का संकेत ग्रह नहीं होता है उससे अर्थ की प्रतीति भी नहीं हो सकती है।

संकेतग्रह मूलतः लोक व्यवहार का कारण है किन्तु इस लोक व्यवहार में सहयोगी रूप में अनेक तत्वों का उल्लेख मिलता है विश्वनाथ ने संकेतग्रह के उपाय का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"किसी बड़े आदमी ने भृत्य से कहा कि गौ लाओ और वह इस वाक्य को सुनकर एक गौ ले आया उनके समीप बैठा हुआ बालक जिसे अब तक इन पदों के अर्थों का कुछ ज्ञान नहीं है—पहले पहल यही समझता है कि 'गौ लाओ' इस समुदाय का तात्पर्य इस जीव को ले आना ही है। अनन्तर 'गौ बाँध दो' 'घोड़ा लाओ' इत्यादि वाक्यों के सुनने पर की गई क्रियाओं को देखकर वह आवायोद्वाप (अन्वय-व्यतिरेक) के द्वारा 'गौ बाँधो' लाओ इत्यादिक प्रत्येक पद के संकेत (शक्ति) को समझता है। जब वह बालक देखता है कि जहाँ 'गो' पद बोला गया वहीं यह जीव उपस्थित

हुआ है अन्यत्र नहीं तो यह समझ लेता है कि गौ पद का वाच्य यही जीव है। इसी प्रकार 'आनय' आदि क्रियाओं का 'लना' आदि अर्थ निर्धारित करता है। इस प्रकार **व्यवहार** से शक्तिग्रह होता है—

उत्तम वृद्धेन मध्यमबुद्धमुद्धिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गामानयन प्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थ इति प्रथमं प्रतिपद्यते। अनुन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गौशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयन पदस्य च 'आहरणमर्थ' इति संकेतमवधारयति।

व्यवहार के अतिरिक्त—कहीं प्रसिद्ध पद के साहचर्य से भी शक्तिग्रह होता है जैसे यहाँ 'मधुकर' का अर्थ शहद बनाने वाली मक्खी है या भ्रमर यह सन्देह 'कमल' पद के साथ होने पर दूर होता है। कमल में भ्रमर के ही रसपान से तात्पर्य है यह बात 'कमल' पद के साहचर्य से ज्ञात होती है अतः यहाँ प्रसिद्धार्थक पद के समभि-व्याहार (सान्निध्य) से मधुकर पद का शक्तिज्ञान होता है—

क्वचिच्च प्रसिद्धार्थपदसमाभिहारात्। यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति इत्यत्र।'

कहीं-कहीं आप्तोपदेश से भी शक्तिग्रह होता है जैसे किसी बालक से उसके पिता आदि ने कहा, कि यह घोड़ा है तो उसे घोड़ा पद की शक्ति उस जीव में गृहीत हुई—क्वचिदात्पोपदेशात्। यथा अयमश्वशब्दवाच्यः इत्यत्र।

संकेतग्रह के इन कारणों के अतिरिक्त संकेतग्रह के अन्य दूसरे तत्व भी हैं। मुक्तावली में इनका उल्लेख इस प्रकार है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा।

अर्थात व्याकरण उपमान; कोश आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवृतिव्याख्या और सिद्धपद के सान्निध्य से भी संकेत ग्रहण होता है। किन्तु इस प्रसंग में वैयाकरण मीमांसक और नैयायिकों के विचार भिन्न हैं अतः विश्वनाथ शक्तिग्रह का विषय बताते हुए लिखते हैं—

संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।

अर्थात शब्द चार प्रकार के होते हैं—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा शब्द। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा पदार्थों की उपाधियाँ (धर्मविशेष) हैं। इन्हीं में शब्दों की शक्ति (संकेत) का ज्ञान होता है व्यक्ति में नहीं। यही जात्यादिक शब्दों के प्रवृत्ति निमित्ति भी कहलाते हैं। गौ आदि व्यक्तियों में **जाति** होती है। पदार्थ की विशेषता उत्पन्न करने का कारणभूत धर्म, जो पहले से सिद्ध हो उसे **गुण** कहते हैं। शुक्लत्वादि गुण गौ आदि को उसके सजातीय कृष्ण गौ आदि से व्यावृत्त करते हैं। केवल एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि

शब्दों को द्रव शब्द वा यदृच्छाशब्द कहते हैं। वस्तु के 'साध्य' धर्म (पाकादिक) त्रिया कहलाते हैं—

'जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका। गुणोविशेषाधानहेतु सिद्धो वस्तु धर्मः। शुक्त्वादयोहि गवादिकं सजातीयेभ्य कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति। द्रव्य शब्दा एक व्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः। क्रिया साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः।'

'पाक' क्रिया को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—इन साध्य-रूपवस्तु धर्मों में 'अधिश्रयण' अर्थात् चावल आदि के पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर 'अवश्रयण' अर्थात् पाकान्त में नीचे उतारने पर्यन्त जितने भी व्यापार करने पड़ते हैं उन सबका नाम पाक है। आग जलाना, चमचे से चलाना, चावल निकालकर देखना, जल देना आदि सब क्रियायें मिलकर पाक कहलाती हैं। इनके सूचक क्रिया शब्द हैं जैसे पाचक, पाठक आदि—एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतोव्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः।

इस प्रकार विश्वनाथ ने जाति, गुण, द्रव्य और त्रिया में संकेतग्रह माना है एस्वेषहिव्यक्तेरूपाधिषु संकेतो गृह्यते।

किन्तु सामान्यतः दृष्टिगत यह होता है कि लोक में संकेतगृह का आश्रय व्यक्ति है किन्तु व्यक्ति में संकेतगृह मान लेने पर अनेक दोष दिखाई देते हैं। मुख्य रूप से 'आनन्त्यं' और 'व्यभिचार' नामक दो दोष हैं–न व्यक्तौ आनन्त्यव्यभिचार दोषापातात्।''

आनन्त्य का अर्थ है कि अनेकत्व तथा व्यभिचार का अर्थ है—नियम का भंग।

संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ को व्यक्त करता है, जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है उस शब्द में उसी अर्थ की प्रतीति होती है। यह नियम व्याकरणशास्त्र का है। यदि हम संकेतग्रह का मूल कारण व्यक्ति को मान लें तब यह समस्या उत्पन्न होती है कि व्यक्ति-विशेष में निर्दिष्ट संकेत 'राम' व्यवित विशेष का ही बोध करेगा, श्याम को नहीं। इसी प्रकार अनेक श्यामादि के बोध के लिए विभिन्न व्यवितयों में संकेतग्रह की आवश्यकता होगी। उदाहरणार्थ एक 'अश्व' शब्द से ज्ञान होने वाले समस्त अश्व व्यवितयों के लिए अलग-अलग एक-एक 'अश्व' को संकेतग्रह का स्थल मानना होगा। इस प्रकार स्पष्ट ही आनन्त्य दोष की यहाँ सम्भावना प्रतीत होती है क्योंकि व्यक्ति अनन्त है, अतः अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी।

आनन्त्यदोष दोष से मुक्त होने पर 'व्यभिचार' दोष आ जाता है। 'व्यभि-चार' का अर्थ 'नियम का उल्लघंन' है जिसके अनुसार कुछ व्यवितयों में व्यवहार के द्वारा ही संकेतग्रह हो जाता है और जो अवशिष्ट व्यक्ति होते हैं उनका ज्ञान संकेतग्रह के नहीं होने पर भी होता है। इस प्रकार यदि 'गौ' शब्द के द्वारा बहुत से 'गौ' व्यक्तियों का ज्ञान बिना संकेत के होने लगे तो यहाँ नियम का अतिक्रमण कर दिया जाता है—अर्थात नियम भंग हो जाता है क्योंकि नियमानुसार शब्द के अर्थ का ज्ञान

संकेतग्रह के ही द्वारा होता है। इस प्रकार इसमें व्यभिचारदोष उपस्थित हो जाता है। ये दोनों आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानने के कारण आ जाते हैं यदि व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जाय तो उक्त दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती। अतएव व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं मानना चाहिए।

यही नहीं पंतजलि ने शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति मानी है। समस्त आलंकारिक इसे स्वीकार करते हैं—"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" यदि व्यक्ति में संकेत-ग्रह मान लिया जायगा तो शब्दों के चार विभाग भी नहीं बनेंगे अतः व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर जाति गुण क्रिया और यदृच्छा शब्दों में ही संकेतग्रह मानना चाहिए। विश्वनाथ का यही अभिमत है—एष्वेवहि व्यक्ते रूपाधिषु संकेतो गृह्यते।

इस प्रसंग में आचार्य मम्मट ने गम्भीर विवेचन करते हुए मीमांसकों के मत का 'जातिरेव वा' तथा "तद्वानपोहो वा शब्दार्थः' लिखकर नैयायिक तथा बौद्धों के मतों का भी उल्लेख किया है। किन्तु मम्मट ने मीमांसकों के लिए 'अन्ये' तथा नैयायिक और बौद्धों के लिए कैश्चिदुक्तः जैसे अवज्ञा सूचक पदों का प्रयोग किया है। किन्तु व्याकरण के मत के लिए महाभाष्यकार बहुवचनान्त आदरसूचक पद का प्रयोग किया है, इससे विदित होता है कि यह मत मम्मट को मान्य है। विश्वनाथ कविराज ने भी व्याकरण सम्मत चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति वाले मत को ही स्वीकार किया है—संकेतो गृह्यते जातौ गुण द्रव्यक्रियासु च।

प्रश्न १७—विश्वनाथ कविराज के अनुसार लक्षण के भेदोपभेदों का विवेचन कीजिए।

शब्द का अर्थ अभिधामात्र में सीमित नहीं है, शब्द का व्यापार विस्तृत है। मुख्यार्थ के बाधित होने पर उससे सम्बद्ध जो दूसरा अर्थ रूढ़ि अथवा प्रयोजन के आधार पर हुआ करता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं और उसकी शक्ति का नाम लक्षणा है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।

अर्थात् "उक्त अभिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोधन किया जाय वह मुख्यार्थ कहलाता है, इसका बोध होने पर अर्थात् वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर, रूढि (प्रसिद्धि) के कारण, अथवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध (युक्त) अन्य अर्थ का ज्ञान, जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शक्ति 'अर्पित' अर्थात् कल्पित (या अमुख्य) है। अभिधा की भाँति ईश्वर से उदभावित नहीं है।

इस प्रकार लक्षणाशक्ति में निम्नलिखित बातें होती हैं—

(१) मुख्यार्थ का बध।
(२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध।
(३) रूढ़ि या प्रयोजन।

विश्वनाथ का उपर्युक्त विवेचन मम्मट के ही अनुसार है किन्तु उदाहरणों में मम्मट और विश्वनाथ में मतभेद है। "साहित्य दर्पणकार ने रूढ़ि को लक्षणा प्रयोजक तो अवश्य माना है किन्तु 'कर्मणिकुशलः' इस प्रयोग में मम्मट निर्दिष्ट रूढ़ि लक्षणा के खण्डन के लिए यह सिद्ध किया है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं अपितु वाचक है। इस प्रसंग में साहित्य-दर्पणकार की युक्ति इस प्रकार है—

"शब्द का मुख्यार्थ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नहीं अपितु प्रवृत्तिलभ्य भी हुआ करता है और इस प्रकार 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भले ही लक्षणा का उत्थापक हो, किन्तु उसका जो प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है अर्थात् दक्ष अथवा प्रवीण वह तो यहीं सिद्ध करता है कि कुशल शब्द वाचक शब्द है लाक्षणिक नहीं।"

लक्षणा के भेद—लक्षणा के भेदों के निरूपण में विश्वनाथ सबसे आगे हैं, मम्मट ने जहाँ लक्षणा के केवल छह भेद—'लक्षणा तेन षड्विद्या' माने हैं, वहीं विश्वनाथ लक्षणा के सोलह भेद मानते हैं। 'तेन षोडश भेदिता'। विश्वनाथ के सोलह भेदों में से प्रयोजनवती लक्षणा गूढ़ और अगूढ़ के भेद से सोलह प्रकार की होती है फिर वही धर्मि एवं धर्मगत भेद से बत्तीस प्रकार की होती है। शेष रूढ़िगत लक्षणा के आठ भेदों को इन बत्तीस भेदों में मिलाने से लक्षणा के चालीस भेद होते हैं। यही चालीस भेद पद एवं वाक्यगत भेद से विश्वनाथ के अनुसार अस्सी भेद हो जाते हैं।

किन्तु विश्वनाथ का यह भेदोपभेद विवेचन पूर्णतः चमत्कारमूलक है, उपयौगिता की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। सर्वप्रथम विश्वनाथ उपादान लक्षणा का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥२/६

अर्थात् "मुख्यार्थ में, अंगरूप से अपने अन्वय की सिद्धि के लिए, जहाँ मुख्य अर्थ अन्य अर्थ का आक्षेप कराता है, वहाँ 'आत्मा' अर्थात् मुख्यार्थ के भी बने रहने से उस लक्षणा को उपादान लक्षणा कहते हैं।"

उपादान लक्षणा में शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करता है। मम्मट के अनुसार—अपनी सिद्धि के लिए दूसरे के स्वत्व का आहरण या उपादान करने वाली लक्षणा का नाम उपादान लक्षणा है। विश्वनाथ ने उपादान लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर दो उदाहरण निम्न दिये हैं।

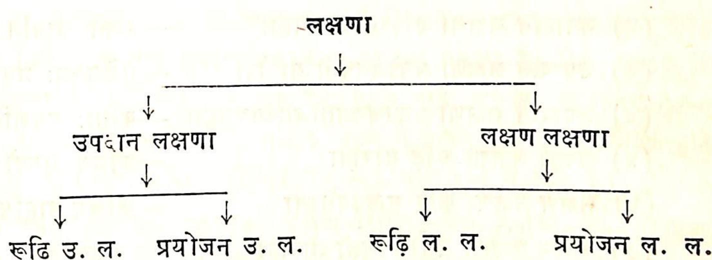
'श्वेतो धावति' रूढ़ि उपादान लक्षणा का तथा 'कुन्ताः प्रविशन्ति' प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण है। "इन उदाहरणों में श्वेत (वर्ण) और कुन्त (भाले) जड़ होने के कारण 'दौड़ने' और 'प्रवेश करने' में (इन क्रियाओं में) कर्त्ता होकर अन्वित नहीं हो सकते, अतः वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'श्वेत' शब्द श्वेत रंग वाले अश्वादि का और 'कुन्त' शब्द कुन्त धारण करने वाले पुरुषों का आक्षेप कराता है। पहले उदाहरण में रूढ़ि निमित्त है और दूसरे में कुन्तों की अतिगहनता

व्यंजित करना प्रयोजन है। इसे वैयाकरणों ने 'अजहत् स्वार्था' लक्षणा कहा है।

लक्षण लक्षणा: "वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के अन्वय-बोध के लिए जहाँ कोई शब्द अपने स्वरूप का समर्पण कर दे अर्थात् मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ का उपलक्षण मात्र बन जाये, उस लक्षणा को लक्षण लक्षणा कहते हैं"—

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥

लक्षण लक्षणा के भी रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर—कलिंग: साहसिक: और 'गंगायां घोष:' उदाहरण हैं। "इन उदाहरणों में क्रम से पुरुष और तट के अन्वय को सिद्ध करने के लिए 'कलिंग' और 'गंगा' शब्द अपने स्वरूप का समर्पण करते हैं अर्थात् वाक्यार्थ में पुरुष और तट का बोध कराने के लिए अपने स्वरूप को उपयोगी बनाते हैं।" ये दोनों ही पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग करते हैं।



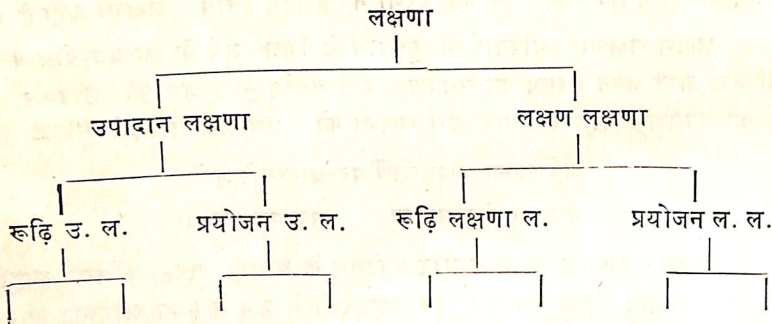
उपर्युक्त चारों लक्षणाओं के 'आरोप' और 'अध्यवसान' के कारण दो-दो अन्य भेद होते हैं—"आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।"

सारोपा और साध्यवसाना को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—"वह लक्षणा सारोपा लक्षणा है—जिसमें विषय (आरोप का विषय जिस पर आरोप किया जाय) अपने स्वरूप में रहते हुए भी अपने भिन्न अर्थात् विषयी (आरोप्यमाण—जिसका आरोप किया जाय) के साथ एक रूप अभिन्न प्रतीत होता है और साध्यवसाना लक्षणा में 'विषयी' के द्वारा आच्छन्न स्वरूप विषय के अभेद का अनुभव होता है—

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादाम्य प्रतीतिकृत्।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका॥

'सारोपा' में विषय और विषयी दोनों ही शब्दों के द्वारा प्रतिपादित रहते हैं, साध्यवसाना में विषय का स्पष्ट उल्लेख नहीं रहता है अपितु अपने विषय द्वारा ही निगीर्ण-अन्तर्हित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधारप र लक्षणा के आठ भेद निम्न प्रकार हैं—



उपर्युक्त आठों लक्षणाओं के निम्न उदाहरण हैं—

(१) उपादान लक्षणा रूढ़ि सारोपा —अश्वःश्वेतो धावति

(२) उपादान लक्षणा रूढ़ि साध्यवसाना —श्वेतो धावति

(३) उपादान लक्षणा प्रयोजनवती सारोपा —एतेकुन्ताः प्रवशन्ति

(४) उपादान लक्षणा प्रयोजनवती साध्यवसाना —कुन्ताः प्रवशन्ति

(५) लक्षण लक्षणा रूढ़ि सारोपा —कलिंगः पुरुषो

(६) लक्षण लक्षणा रूढ़ि साध्यवसाना —कलिंग साहसिकः

(७) लक्षण लक्षणा प्रयोजनवती सारोपा —आयुर्घृतम

(८) लक्षण लक्षणा प्रयोजनवती साध्यवसाना —गंगायां घोषः

उपर्युक्त आठों लक्षणा शुद्धा एवं गौणी भेद से सोलह प्रकार की लक्षणायें होती हैं। सादृश्य से भिन्न किसी सम्बन्ध के द्वारा सिद्ध लक्षणा शुद्धा होती है और सादृश्य सम्बन्ध ही इनका प्रयोजक होने पर यह गौण लक्षणा कहलाती है—

सादृश्येतर संबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्या-तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिता ।।

शुद्धा के उदाहरण वही हैं जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है जैसे—'अश्वः श्वेतो धावति।' गौणी सारोपा उपादान लक्षणा का उदाहरण—"एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि"—"यहाँ तेल शब्द तिलों से उत्पन्न स्नेह (तिल का तेल) रूप मुख्य अर्थ का उपादान करके ही सरसों आदि के स्नेह का बोधन करता है अतः यह उपादान लक्षणा है। तात्पर्य यह है कि तैल शब्द का अक्षरार्थ है—'तिलों से उत्पन्न स्नेह'। इस कारण तिल का तैल ही इस शब्द का मुख्य अर्थ है, किन्तु सादृश्य होने के कारण सरसों आदि का स्नेह को भी तैल ही कह देते हैं। उक्त उदाहरण में तिल भव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ है, अतः यह गौणी उपादान लक्षणा है। लक्षणा का यहाँ

कोई व्यंग्य प्रयोजन नहीं, तैल शब्द की प्रसिद्धि ही इस प्रयोग का कारण है, अतः यह रूढ़िमूलक लक्षणा है। एतत शब्द से विषय का निर्देश है, अतः यह सारोपा है। इस प्रकार यह उदाहरण रूढ़िमूलक सारोपा गौणी उपादान लक्षणा का है।"

प्रयोजनवती सारोपा गौणी उपादान लक्षणा का उदाहरण है—

'एते राजकुमारा गच्छन्ति' "राजकुमार और उनके सदृश अन्य कुमारों के साथ-साथ जाने पर—'एते राजकुमारा गच्छन्ति' यह प्रयोग होता है। यहाँ एतत् शब्द से विषय का निर्देश होने के कारण आरोप है। राजकुमारों का भी इसमें उपादान है और अन्य कुमारों का राजकुमारों के तुल्य आदरणीय होना इस लक्षणा का प्रयोजन है। सादृश्य सम्बन्ध इसका प्रयोजक है।" इन दोनों उदाहरणों में से विषय वाचक एतत्पद हटा देने से ये साध्यवसाना के उदाहरण बन जाते हैं।

रूढ़ि सारोपा गौणी लक्षण लक्षणा—इस लक्षणा का उदाहरण है—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति', कण्टक शब्द का अर्थ है काँटा—इसका गौडेन्द्रं के शब्द के अर्थ (राज विशेष) के साथ समानाधिकरण से सम्बन्ध अनुपन्न है, अतः कण्टक शब्द सादृश्य सम्बन्ध से, कांटे की तरह दुःख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है—यहाँ मुख्य अर्थ का उपादान नहीं है। 'गौडेन्द्रं' शब्द से विषय का पृथक निर्देश होने के कारण आरोप है। कण्टक शब्द की क्षुद्र शत्रु में प्रसिद्धि होने से रूढ़ि है।

प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षण लक्षणा—इस लक्षणा का उदाहरण है "गौर्वाहिक"—यहाँ बाहीक (पंजाब) देश निवासी किसी पुरुष की मूर्खता की क्रियाओं को देखकर उक्ति है—'बाहीक बैल है'। यहाँ 'गो' शब्द का सादृश्य सम्बन्ध से बाहीक को लक्षित करता है; अतः यहाँ गौणी लक्षणा है।

'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति' तथा गोर्वाहीक उदाहरणों में से विषय वाचक गौडेन्द्रं और बाहीक को अलग कर देने पर साध्यवसाना के उदाहरण हो जाते हैं।

लक्षण लक्षणा साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती जैसे 'गौर्जल्पाति' क्रिया के बिना केवल गौ कहने से लक्षणा का भान नहीं होता और न वाक्य ही बनता है अतः क्रिया सहित उदाहरण है 'गौर्जल्पति' जल्प धातु का अर्थ है व्यक्त वाणी बोलना उनमें कर्तृत्व रूप से गौ का सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः लक्षणा है।

उपर्युक्त सोलह लक्षणाओं में आठ रूढ़िमूलक हैं और आठ प्रयोजन मूलक इनमें से प्रयोजन मूलक लक्षणाओं के अन्य भेद भी होते हैं।

गूढ़ व्यंग्य एवं अगूढ़ व्यंग्य—प्रयोजन फल में व्यंग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने के कारण यह प्रयोजनवती दो प्रकार की होती है।

व्यंग्यस्य गूढ़ागूढ़तत्वाद द्विधास्युः फल लक्षणा।

इस प्रकार प्रयोजनवाती के सोलह भेद हैं। गूढ़व्यंग्य वह है जो सहृदय संवेद्य है तथा जो सूक्ष्म प्रतिभागम्य होता है। जैसे—

उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते सृजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ।।

अपकार करने के बाद अपने को उपकारी बताने वाले व्यक्ति के प्रति उक्ति है —आपने बहुत उपकार किया है। उसके क्या कहने हैं। आपने सज्जनता का विस्तार किया है। हे मित्र ! आप इसी प्रकार कार्य करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहिए। इस उद्धरण में अपकारादि की अभिव्यक्ति के लिए उपकृत, सुजनता आदि शब्द अपने स्वरूप का समर्पण करते हैं। अपकारी के प्रति उपकारादि के कथन से मुख्यार्थ का बाध है। मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का वैपरीत्य रूप सम्बन्ध है। अपकार का आधिक्य व्यंजित करना इस लक्षणा का प्रयोजन है।

अगूढ़ उस व्यंग्य को कहते हैं—जो अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण सर्वजन संवेद्य हो जैसे—'उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एवं ललितानि' अर्थात् "ललनाओं को यौवन का मद' ही ललित हावभावों का उपदेश कर देता है। उपदेश देना चेतन का ही कार्य है और मद जड़ है अतः यहाँ लक्षणा से 'उपदिशति' का अर्थ है प्रकट करता है। 'आविष्कार का अतिशय जो वहाँ व्यंग्य प्रयोजन है वह अभिधेय की भाँति स्फुट रूप से प्रकाशित होता है।'

उपर्युक्त सोलह प्रकार की लक्षणायें फल के धर्मिगत और धर्मगत होने के कारण दो प्रकार की होकर बत्तीस प्रकार की हो जाती हैं—'धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा।'

उपर्युक्त प्रयोजनवती लक्षणा के बत्तीस भेद तथा पूर्वोक्त रूढ़िलक्षणा के आठ भेद मिलकर लक्षणा के चालीस भेद होते हैं।

लक्षणा पदगत एवं वाक्यगत :

लक्षणा का एक विभाजन पदगत और वाक्यगत रूप से भी किया जाता है तदनुसार चालीस लक्षणायें पद और वाक्य भेद से लक्षणायें अस्सी होती हैं—

"पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा"।

'पदगत लक्षणा के उदाहरण गंगायां घोषः' तथा वाक्यगत लक्षणा के उदाहरण 'उपकृतं बहुतत्र' आदि होते हैं।

विश्वनाथ का यह भेद प्रदर्शन पूर्णतः चमत्कारमूलक है उपयोगिता की दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है।

मम्मट एवं मुकुलभट्ट ने लक्षणा के केवल छह भेद माने हैं। उनके प्रतिपादन का आधार निम्न है। मम्मट उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा को शुद्धा का भेद मानते हैं किन्तु गौणी का नहीं। विश्वनाथ ने इन्हें गौणी के भेद भी माना है। इन्हें यदि मम्मट प्रतिपादित छह भेदों में मिला दें तो आठ भेद होते हैं फिर विश्वनाथ ने इन्हीं आठ को रूढ़ि और प्रयोजन से मानकर सोलह भेद मान लिए हैं किन्तु मम्मट

ने ऐसा नहीं किया है। अतः 'लक्षणा तेन षडविधा' यह मम्मट का सिद्धान्त है। इस प्रसंग में डा० सत्यव्रत सिंह ने लिखा है कि—"विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी बातों का भी निर्देश किया है जिन्हें काव्य प्रकाशकार ने सोच समझ कर छोड़ दिया है जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने व्यंग्यार्थधर्मता के आधार पर लक्षणा के दो ही भेद गिनाए हैं—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इनमें भी प्रयोजन के धर्मिगतं और धर्मगतं भेद निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद संख्या बढ़ गई है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा की भेद संख्या के घटने बढ़ने का कोई विशेष महत्त्व नहीं।

इससे केवल लक्षणा का विस्तार हो गया है किन्तु उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

प्रश्न १८—व्यंजनावृत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसके महत्व को बतलाइये।

उत्तर—व्यंजना शब्द की तीसरी शक्ति है—व्यंजना शब्द की निष्पत्ति वि+अंजना इन दो शब्दों से हुई है—व्यंजना का अर्थ है विशेष प्रकार का अंजन। "अंजन के लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ़ती जाती है किन्तु जब विशेष प्रकार का अंजन लगाया जाता है तो परोक्ष वस्तु भी दृष्टिगोचर होने लगती।" व्यंजना इसी अप्रकटित अर्थ को स्पष्ट करती है। जब अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्तियाँ अर्थ प्रकट करने में असमर्थ हो जाते हैं तब व्यंजना शक्ति काव्य के छिपे हुए गूढ़ सौन्दर्य को प्रकट करती है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि "अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर भी जो एक अर्थ निकलता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं तथा जिस वृत्ति या शक्ति के द्वारा यह अर्थ प्राप्त होता है, उसे व्यंजना वृत्ति कहते हैं—

विरतास्वभिधाद्यासु यथाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

आशय यह है कि जब अभिधा शक्ति शब्द का अर्थ बतलाने में असमर्थ हो जाती है तब लक्षणा का व्यापार प्रारम्भ होता है किन्तु कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनकी प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती है। उस अर्थ की प्रतीति का कार्य व्यंजना वृत्ति करती है। अभिधा आदि "शब्द की शक्तियाँ हैं। किन्तु व्यंजना का सम्बन्धशब्दार्थ से है। इस बात को आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा की वृत्ति में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—शब्द बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः इति नयेनाभिधा लक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्द स्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्ति व्यंजनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यंजना नाम।"

अर्थात् "एक बार जब शब्द बुद्धि और कर्म अपना-अपना व्यापार कर चुकते हैं तब फिर उनमें कोई व्यापार नहीं हो सकता। इस सिद्धांत के अनुसार यह मानना

अनिवार्य है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य की शक्तियाँ जब एक बार अपना-अपना अर्थ उपस्थित कर चुकीं तब फिर किसी अर्थ का उपस्थापन कदापि नहीं कर सकतीं। अब यदि कहीं वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्यरूप अर्थों से सर्वथाभिन्न अर्थ प्रतीत हो जैसा कि हुआ करता है वह शक्ति व्यंजनाशक्ति है। इस शक्ति को व्यंजन कहें, ध्वनन कहें, गमन कहें, प्रत्यायन कहें या और जो चाहे कहें किन्तु इसे अभिधादि विलक्षण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह शक्ति केवल शब्द की नहीं किन्तु अर्थ की, (और अर्थ की ही क्यों ?) प्रकृति की, प्रत्यय की उपसर्ग की और निपाल आदि की शक्ति के 'रूप में स्फुरित' हुआ करती है।"

आचार्य विश्वनाथ की व्यंजना की परिभाषा पर आचार्य अभिनवगुप्त का प्रभाव है उनके कथन का सार यह है कि—

"व्यंग्यार्थ-प्रतिपत्ति में अभिधा तात्पर्य किंवा लक्षणा शक्तियों का कोई हाथ नहीं हो सकता। अभिधा का हाथ तो इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि व्यंग्यार्थ सांकेतिक अर्थ नहीं हुआ करता। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रत्यायन इसलिए असम्भव है क्योंकि जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं वह पदार्थों का परस्पर संसृष्ट अथवा अन्वित अर्थ नहीं अपितु एक लोकोत्तर कमनीय अर्थ हुआ करता है। लक्षणा व्यंग्यार्थ में क्योंकर प्रवेश करने लगी, जबकि यहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं और न कोइ हेतु अथवा प्रयोजन है। इन तीनों व्यापारों के अतिरिक्त किंवा इन तीनों व्यापारों से सर्वथा उत्तीर्ण व्यंजन अथवा ध्वनन का व्यापार ही वह व्यापार है जिसे व्यंग्यार्थबोध के लिए अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है।"

व्यंजना वृत्ति की सत्ता केवल अलंकार शास्त्र में है। अन्य शास्त्र इस वृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की आधार-शिला व्यंजना वृत्ति पर ही आधृत है। क्योंकि इस शास्त्र में नीरस उक्ति रसिक साहित्यिक को प्रिय नहीं। रस प्रधान साहित्यशास्त्र में रसास्वाद की समस्या का समाधान व्यंजना वृत्ति से ही सम्भव है क्योंकि यह व्यंग्यार्थ प्रधान है जिसमें मुख्यार्थ का बाध होता है तथा जिसकी वक्रोतियाँ अनिवार्य तत्व है। ऐसी व्यंजना वृत्ति एक नवीन शैली है—

व्यंग्यप्रधानाभिनैवभंगी मुख्यार्थबाधः परम प्रकर्षः।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरिणिः कवीनाम्॥

व्यंजना वास्तविक प्रयोजन की प्रतीति में सहयोग देती है। अभिधा और लक्षणा वास्तविक गूढ़ अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाती। उदाहरण के लिए—'गंगाया घोषः' को लिया जा सकता। गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा से यह आशय निकला कि गंगा के तट पर गाँव है। एक शक्ति एक ही अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है। अतः वक्ता के अभिप्राय गाँव की पवित्रता, वातावरण की शीतलता और मनोहारिता को व्यक्त करने के लिए तीसरी शब्द शक्ति की कल्पना नितान्त अपरिहार्य है और तीसरा अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार

'गंगाया घोषः' के उदाहरण में शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यंजनाशक्ति से ही सम्भव है। अतः व्यंजनाशक्ति एक महत्वपूर्ण शब्दशक्ति है।

प्रश्न १९—शाब्दी व्यंजना का निरूपण कीजिए।

उत्तर—व्यंजना के अनेक भेद होते हैं किन्तु शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना नामक इसके दो प्रमुख भेद हैं। शाब्दी व्यंजना में शब्द प्राधान्य होता है, शब्द के परिवर्तन के साथ अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की होती है—"अभिधालक्षणमूला शब्दस्य व्यंजना द्विधा।" अर्थात् शाब्दी व्यंजना के अभिधामूलक और लक्षणा मूलक दो भेद हैं। "संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के प्रकृतोपयोगी एक अर्थ के निर्णीत हो जाने पर भी जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह व्यंजना अभिधाशक्ति के आश्रित होती है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्य धी हेतु व्यंजना साऽभिधाश्रया॥

इस कारिका में आदि शब्द विप्रयोग आदि का सूचक है। आचार्य विश्वनाथ संयोगादि के स्पष्टीकरण के लिए भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' के श्लोकों को उद्धृत करते हैं।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्यान्यस्य सिंनधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतवः।

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश-काल, व्यक्ति और स्वर आदि के अर्थ का निर्णय न होने (सन्देह होने) पर विशिष्ट अर्थ के निर्णय में सहयोगी कारण होते हैं।

संयोगादिकों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

"सशङ्खचक्रो हरिः" इति शंखचक्र योगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते। 'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव। 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः। 'सर्वं जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः। 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति 'मधुर्वसन्तः'। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभातिगगने चन्द्रः' इति चन्द्रः, शशी। 'निशि चित्रभानुः' इतिचित्रभानुर्वह्नि। 'भाति रथांगम्' इति नपुंसक व्यवत्या रथांग चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेष प्रतीतिकृत् न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः इनकी व्याख्या करते हुए डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि—

(१) **संयोग**—जैसे कि 'संशखचक्रो हरिः' यहाँ (अनेकार्थक) हरि शब्द इसलिए केवल भगवान विष्णु का ही अर्थ हो सकता है क्योंकि शंख और चक्र का सम्बन्ध

इसी अर्थ में उत्पन्न है। (न कि अन्य अर्थों में जैसे कि यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, भेक आदि आदि में)।

(२) **विप्रयोग**—जैसे कि 'अशंखचक्रो हरिः'। यहाँ शंख और चक्र के विश्लेष के कारण हरि शब्द एकमात्र विष्णु वाचक ही बन रहा है (क्योंकि जैसे शंख और चक्र का संयोग विष्णु से ही स्वभावतः सिद्ध है वैसे ही इनका विश्लेष अथवा वियोग भी विष्णु से ही सम्भव है न कि यमादि से।

(३) **साहचर्य**—जैसे कि 'भीमार्जुनौ'। यहाँ अर्जुन पद अनेकार्थक है क्योंकि 'अर्जुन' के अर्थ पृथापुत्र पाण्डव प्रवीर किंवा एक वृक्षविशेष दोनों हैं किन्तु साहचर्य के कारण अर्थात् भीम पद के भीमसेन रूप और अर्जुन पद के पाण्डव प्रवीर भीमार्जुन अर्जुन रूप अर्थों में ही सहचर भाव की संगति के कारण अर्जुन पद का अर्थ एकमात्र पृथापुत्र अर्जुन ही हो सकता है। (न कि वृक्षविशेष)।

(४) **विरोधिता**—जैसे कि 'कर्णार्जुनौ'। यहाँ 'विरोधिता' अर्थात् पारस्परिक वैर विरोध के भाव के कारण 'कर्ण' पद का अर्थ केवल सूतपुत्र कर्ण ही हो सकता है (न कि कान आदि आदि)।

(५) **अर्थ**—जैसे कि 'स्थाणुं वन्दे'। यहाँ अर्थ अर्थात् वन्दना के अर्थ अथवा प्रयोजन की दृष्टि से स्थाणु पद का अभिप्राय एकमात्र भगवान शिव हो सकता है (न कि देवता आदि आदि का)।

(६) **प्रकरण**—जैसे कि 'सर्वं जानाति देवः'। यहाँ 'देव' पद जो अनेकार्थक है प्रकरण के कारण एकमात्र आप इस अर्थ का ही उपस्थापक हो रहा है (न कि देवता आदि-आदि का)।

(७) **लिंग**—जैसे कि 'कुपितोमकरध्वजः'। यहाँ लिंग अर्थात् भीम ध्वजरूप धर्म विशेष के कारण 'मकरध्वजशब्द' का अर्थ एकमात्र 'कामदेव' ही हो सकता है (न कि समुद्र आदि) क्योंकि समुद्र रूप अर्थ में यह धर्म विशेष साक्षात् संगत नहीं।

(८) **शब्द ??रसान्निध्य**—जैसे कि 'देवः पुरारिः' यहाँ 'अन्य शब्द सन्निधि के कारण अर्थात् 'देव' शब्द के सामीप्य से पुरारि पद केवल शिव का ही वाचक हो सकता है (न कि किसी शत्रु नगर संहारक अन्य राजवीर आदि का)।

(९) **सामर्थ्य**—जैसे कि 'मधुना मत्तः पिकः'। यहाँ सामर्थ्य के कारण अर्थात् कोकिल को उन्मत बनाने के सामर्थ्य के कारण मधु पद का एक मात्र अर्थ बसन्त ऋतु ही हो सकता है (न कि और कुछ जैसे कि देशविशेष, मधु आदि)।

(१०) **औचिती**—अथवा औचित्य जैसे कि 'पातु वो दयिता मुखम्'। यहाँ औचित्य के कारण अर्थात् कामार्त्त प्रेमी के परित्राण योग्यता की दृष्टि से 'मुखम्' पद का अर्थ एक 'मात्र' 'साम्मुख्य' अथवा अनुकूलता ही निकल सकता है न कि मुँह जिसमें प्रेमी के परित्राण की कोई योग्यता नहीं।

(११) **देश**—जैसे कि 'विभाति गगने चन्द्रः' । यहाँ 'देश' के कारण अर्थात् आकाश रूप देश अथवा स्थान के विवक्षित होने की दृष्टि से 'चन्द्र' पद (जो कि कर्पूर आदि अर्थों का भी वाचक है) एकमात्र 'चन्द्रमा' का अर्थ रख सकता है ।

(१२) **काल**—जैसे कि 'निशिचित्रभानु' । यहाँ काल के कारण अर्थात् रात्रि रूप समय की विवक्षा की दृष्टि से चित्रभानु पद (जो कि अग्नि और सूर्य दोनों अर्थों का वाचक है) केवल अग्नि का ही अर्थ रख सकता है ।

(१३) **व्यक्ति**—जैसे कि 'भातिरथांगम्' । यहाँ 'रथांग' पद (जो कि चक्र और चक्रवाक दोनों अर्थों का वाचक है । व्यक्ति अर्थात् नपुसंकलिंग के कारण एक मात्र रथ के चक्र (पहिए) का ही अर्थ दे सकता है ।

(१४) **स्वर**—स्वर के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही सम्भव है न कि काव्य साहित्य में । स्वर की अर्थ नियामकता का उदाहरण इसलिए यहाँ नहीं दिया जा रहा ।

अन्य अर्थ नियामक तत्वों को आचार्य ने आदि शब्द से कहा है ।

आदि शब्द से—चेष्टा और अभिनय मुद्रा आदि ग्रहीत हैं । चेष्टा और हाथ आदि की मुद्राओं के द्वारा अर्थ का निर्णय—

'एतावन्मात्रस्तनी' जैसे श्लोकों में है । यहाँ हाथ की चेष्टाओं से ही 'एतावत्' शब्द से ही नायिका के स्तनों की रूपरेखा का निर्देश स्पष्ट है ।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि "अभिधा' के द्वारा एक अर्थ के नियन्त्रित होने पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है, उसे अभिधा मूला व्यंजना कहते हैं—"एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थ बुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यंजना ।"

इस अभिधामूला व्यंजना का उदाहरण कवीश्वर चन्द्रशेखर का द्रष्टव्य है—

दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयं स्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ।।

"यह पद उमा नामक रानी के पति राजा भानुदेव की प्रशंसा में लिखा गया है अतः प्रकरण के नियमन से उन्हीं का बोध होता है, परन्तु शब्द रचना इस प्रकार की है जिससे महादेवपरक अर्थ भी व्यंजना से प्रतीत होता है, और फिर अन्त्य में इन दोनों । (राजा और शिव) का उपमानोपमेय भाव फलित होता है ।"

इस पद में दुर्ग, विग्रह, संमीलयन, राजकल, भोगि, नक्षत्रेश, गिरिगुरु ग्राम, विभूति, उमा इत्यादि पदों से रानी उमा के साथ शंकर परक अर्थ भी स्पष्ट है ।

"यहाँ प्रकरण के द्वारा 'उमा वल्लभ' शब्द का 'उमा' नामक महादेवी के

वल्लभ 'भानुदेव नृपति' यह अभिधेय अर्थ निश्चित होने पर भी व्यंजना ही के द्वारा गौरीवल्लभ (शंकर) रूप अर्थ बोधित होता है—"अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभ शब्दस्योमानाम्नी महादेवीवल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यंजनयैव गौरीवल्लभ-रूपोऽर्थो बोध्यते।

प्रश्न २०—आर्थी व्यंजना का सोदाहरण निरूपण कीजिए।

उत्तर—आर्थी व्यंजना में अर्थ की सहायता से व्यंग्यार्थ की प्रतीत होती है। "जहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो वरन् उस शब्द के अर्थ द्वारा ध्वनित होता है, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। व्यंजना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर भी व्यंजना सुरक्षित रहती है। 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वाचक शब्द पर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्द पर अवलंबित रहती है किन्तु आर्थी व्यंजना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण सम्भव हुआ करती है।"

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार आर्थी व्यंजना के वैशिष्ट्य के निम्न प्रकार हैं—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्ताव देश कालानां काकोश्चेष्टादिकस्प च ।
वैशिष्टयादन्यमर्थं या बोधसेत्साऽर्थसंभवा ।।

वक्ता (कहने वाला) बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय), वाक्य, अन्य का सन्निधान, वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, काकु (गले की विशेष ध्वनि) तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति अन्य अर्थ का बोध करती है, वह अर्थमूलक व्यंजना है।

आर्थी व्यंजना के प्रकारों का क्रमशः उदाहरण—

वक्ता, वाक्य, प्रकरण और देशकाल की विशेषता के कारण उत्पन्न व्यंजना के उदाहरण के लिए आचार्य विश्वनाथ ने अपना लिखा श्लोक उद्धृत किया—

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्ज मञ्जुर्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ।।

इस श्लोक में नायिका की सखी कहती है—"वसन्त ऋतु का उन्मादक समय है और फिर यह कामदेव कुपित है, रतिश्रम को हरने वाला धीर समीर मन्द-मन्द चल रहा है। अशोक के कुन्जों में रमणीय, क्रीड़ा के योग्य यह छोटा सा वन है और पति दूर है। हे सखी, बता तो सही, अब क्या करना चाहिए?"

इस श्लोक के अर्थ की व्यंजना यह है कि "यहाँ शीघ्र प्रच्छन्न कामुक को तू भेज"—अत्रैतं देशं प्रतिशीघ्रं प्रच्छन्न कामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते।

बोद्धव्य वैशिष्ट्यः जहाँ श्रोता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ बोद्धव्य विशिष्ट आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रेदूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।

दूती से कुपित नायिका की उक्ति है—"तेरे स्तन तटों से चन्दन सब छूट गया है, अधरों का रंग बिलकुल साफ हो गया है, नेत्रों के प्रान्त अंजन से शून्य हैं और तेरी दुर्बल देह पुलकित हो रही है, बान्धवजन की (मेरी) व्यथा को न समझने वाली, हे मिथ्यावादिनी दूती, तू यहाँ से वापी में स्नान करने गई थी और उस अधम (नायक) के पास नहीं गई थी।"

इस श्लोक का—'न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्' इस अंश में विपरीत लक्षणा के द्वारा—"तदन्तिकमेव गतासि" तू उसी के पास गई थी, यही अर्थ लक्षित होता है। और उसका रमण करने गई थी, यह अर्थ व्यंजित होता है। यह अर्थ प्रतिपाद्य दूती की विशेष दशा के कारण बोधित हो रहा है—अत्रदतन्तिकमेव गतासि इति विपरीत-लक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमिति व्यंग्यं प्रतिपाद्य दूती वैशिष्ट्याद् बोध्यते।

अन्य सन्निधि की विशेषता—जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के संसर्ग के कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है वहाँ अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ होता है। जैसे—

पश्य निश्चल, निष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकत भाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव॥

निर्जुन कुंज में सरोवर के निकट निश्चेष्ट बैठे प्रियतम से नायिका कह रह है कि "हे निश्चल देख कमल के पत्र पर बैठा हुआ बगुला निर्मल पन्ने की थाली में रखे हुए शंख की तरह सुन्दर दिखाई दे रहा है। इस उदाहरण में व्यंग्यार्थ का निर्जनत्व रूप वैशिष्ट्य यहाँ प्रयोजन है और यह प्रयोजन अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य के द्वारा होता है। वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न है—बलाका। उसकी सन्निधि वैशिष्ट्य है निःस्पन्दत्व। उसी के द्वारा यहाँ इस स्थान का निर्जनत्व व्यंजित होता है।

काकु वैशिष्ट्य—भिन्न कंठध्वनि को काकु कहते हैं। जहाँ कंठध्वनि की विशेषता के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ काकु वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है।

गुरुपरतन्त्रया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ॥

सखी से नायिका कह रही है कि मेरा प्रियतम बसन्त ऋतु में नहीं आयेगा

किन्तु सखी इस पद्य को अपने गले की दूसरी ध्वनि से पढ़ती है जिससे यह व्यंजित होता है कि गुरुजनों के अधीन होने के कारण मेरा प्रियतम जा रहा है अन्यथा वह जाता नहीं। फिर भी बसन्त समय में "नैष्यति ? क्या नहीं आएगा अर्थात् अवश्य आएगा। यह दूसरा अर्थ काकु से व्यक्त होता है—अत्र नैष्येति, अपि तर्हि एष्यत्यत्वेति काक्वा व्यज्जते।

चेष्टा वैशिष्ट्य जहाँ चेष्टा या हाव भाव के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ चेष्टा वैशिष्ट्य जन्य आर्थीव्यंजना होती है—

संकेत कालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

चतुर सखी ने विकसित नेत्रों से भाव प्रकट करते हुए लीला कमल बन्द कर दिया। यहाँ कमल बन्द कर यह संकेत किया गया है कि संध्या (जब कमल मुकुलित होते हैं) संकेत का समय है अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कदाचिद्योत्यते।

इसी प्रकार वक्ता आदि की विशेषताओं से आर्थी व्यंजना को समझना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ अन्त में इस प्रसंग का उपसंहार मम्मट की तरह करते हुए लिखते हैं कि आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग रहता है—'अर्थ शब्द से बोधित होने पर अभिव्यंजन करता है और शब्द भी अर्थ का आश्रय लेकर ही व्यंजन करता है अतः एक (शब्द अथवा अर्थ) जहाँ व्यंजक होता है वहाँ दूसरा सहकारी (साथी) कारण रहता है—

शब्द बोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥

आशय यह है कि व्यंजना में शब्द को अर्थ की और अर्थ को शब्द की अपेक्षा होती है अतः एक ही व्यंजकता में अन्य की सहकारिता अवश्य माननी होगी।

———

तृतीय परिच्छेदः

काव्यात्मतत्व-विचार

प्रश्न २१—आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर—(रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं।) सम्भवतः रस की इस महत्ता के कारण ही भरत ने लिखा है—"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।" काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर ने रस को काव्य की आत्मा माना है—"शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मा"। (इसी तथ्य को ध्यान में रखकर विश्वनाथ ने रस को काव्य का सर्वस्व घोषित किया है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अतः हम कह सकते हैं कि रस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्यों में विश्वनाथ अन्यतम हैं।)

(रस निरूपण की जिज्ञासा में विश्वनाथ लिखते हैं कि—सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित, वासनारूप, रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त करता है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ।

आशय यह है कि "काव्यादि के सुनने से अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद ग्लानि आदि संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासना रूप रति, ह्रास, शोक आदि स्थायी भाव शृंगार हास्य और करुण आदि रसों के स्वरूप में परिणत होते हैं ।"

विश्वनाथ के रस विवेचन पर भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रभाव है । विश्वनाथ रसास्वाद का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—"मन में तमोगुण एवं रजोगुण को दबाकर सत्वगुण का उद्रेक एवं प्राबल्य होने पर ही रस का साक्षात्कार या अनुभव होता है ।" सत्वोद्रेक की स्थिति में अनुभव होता है अतः रस अलौकिक है । वह अखण्ड स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है अतः ब्रह्मा स्वाद सहोदर है । वह अखण्ड सभी तरह के लौकिक ज्ञान से मुक्त होता है, वह लोकोत्तर चमत्कारप्राण है । अलौकिक विभावादि के कारण भी वह अलौकिक है । सहृदयों को दुःख से असंभिन्न आनन्द प्रदान करने के कारण अलौकिक है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः,
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

उपर्युक्त रस के स्वरूप प्रतिपादन करने वाली परिभाषा में रस की विभिन्न विशेषताओं को स्पष्ट किया गया है, क्रमशः उन पर इस प्रकार विचार किया जा सकता है—

(१) रस का उद्रेक सत्वगुण की स्थिति में होता है—

रस की उत्पत्ति रजोगुण एवं तमोगुण से रहित स्थिति में होती है । सतोगुण की स्थिति में मनुष्य सांसारिक राग-द्वेष रहित चित्र में मुक्त होकर ऊपर उठ जाता है । अतः रसास्वाद रागद्वेष रहित चित्त में होता है । रसास्वाद के अनन्तर उसका हृदय उदार निर्मल, परिष्कृत हो जाता है । यह रसास्वाद ऐन्द्रिय उत्तेजना से रहित एवं सात्विक होता है ।

(२) रसास्वाद अखण्ड है—रसानुभूति के समय विभाव, अनुभाव और संचारी आदि का अनुभव पृथक-पृथक न होकर संयुक्त रूप में होता है । विभावादि रस के साथ एकाकार होकर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को उसमें लय कर देते हैं । इसलिए सभी की समन्वित अनुभूति होती है अतः रस अखण्ड हैं । यही नहीं, इस अनुभूति में परिमाण का भेद भी नहीं होता है ।

(३) **रस स्वप्रकाशानन्द एवं चिन्मय है**—रसानुभूति के अवसर पर अन्य किसी विषय की चेतना भी नहीं होती है। रस ब्रह्म के समान स्वयं प्रकाशमान है, जो कि रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मायावृत रहता है, सतोगुणी की स्थिति में स्वतः प्रकाशित हो उठता है। अतः कह सकते हैं कि इसका प्रकाशन आत्म चैतन्य से होता है। यह सुख इन्द्रिय सुख से भिन्न है।

(४) **रसानुभव अन्य ज्ञान सुख से रहित है**—रसानुभूति की अवस्था में अन्य ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। यह अनुभवपूर्ण तन्मयावस्था में होता है। आशय यह है कि रसानुभूति की स्थिति में अपने पराए का भाव नहीं रहता। प्रमाता स्व और पर की भावना से मुक्त होकर तन्मन हो जाता है। इस स्थिति में प्रमाता देशकाल की सीमाओं के ऊपर उठ जाता है।

(५) **रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है**—रस को ब्रह्मानन्द का समकक्ष माना गया है। ब्रह्मस्वाद सहोदर कहा गया है। यह आनन्द ऐन्द्रिक आनन्द से भिन्न होकर चिदानन्द का विषय है। अतः रसानुभूति विषयानुभूति से भिन्न होकर सर्वथा अलौकिक अनुभूति है। इतना होने पर भी काव्य रस को ब्रह्मानन्द नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मानन्द स्थायी होता है और काव्यानन्द (रस) स्थायी नहीं होता। ब्रह्मानन्द में लौकिक विषयों का पूर्णतः तिरोभाव हो जाता है। इसके विपरीत काव्यानन्द (रस) में लौकिकता का अंश बना रहता है। निष्कर्ष यह है कि रस काव्य का अस्वाद है। यह आनन्दमय है किन्तु इसमें इन्द्रियों के सुख का अभाव रहता है—"इस आनन्द चेतना में मृणमय अर्थात् ऐन्द्रिय भोग आदि का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आतमानन्द का सद्भाव रहता है। लोकिक भाव काव्यनिबद्ध होकर स्थूल ऐन्द्रिय रूप त्याग कर सूक्ष्म रूप धारण कर लेते है शास्त्रीय शब्दावली में वे देश काल की सीमा से मुक्त साधारणीकृत हो जाते हैं।

(६) **रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है**—यह रसानुभूति विलक्षण है। इसमें ऐन्द्रिक आनन्द से भिन्न अनुभूति होती है। यह अति प्राकृतिक न होकर अतीन्द्रिय होता है। लोक से विलक्षण इसकी अनुभूति होती है। आचार्य विश्वनाथ ने इस तत्व को बहुत अधिक महत्व दिया है—रस में विस्मय ही उसका प्राण है। इस बात के समर्थन के लिए वे अपने प्रपितामह का एक उद्धरण भी उद्धृत करते हैं—चमत्कारश्चित्तविस्वाररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मदवृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठी गरिष्ठकविपण्डित मुख्यश्रीमन्नारायणपादैरूक्तम्। तदाहधर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

रसे सारचमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयतेः
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणौ रसम्। इति

आचार्य विश्वनाथ ने अपनी कारिका में 'कैश्चित्प्रमातृभि' पद का प्रयोग किया है, इस पद से उनका आशय यह है कि—"जैसे कोई-कोई विशिष्ट योगी ब्रह्म का

साक्षात्कार करते हैं इसी प्रकार कोई कोई पुण्यवान अर्थात् वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय प्रकार का पुरुष रस का अस्वाद कर लेते हैं। सबको रस का साक्षात्कार नहीं होता।" अतः रसास्वाद के लिए योग्यता का होना भी आवश्यक है।

रस अपने रूप से अभिन्न है—आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस मूलतः आस्वाद रूप है, रस पदार्थ न होते हुए भी व्यवहार में रस का आस्वादन किया जाता है। ऐसा लोक प्रचलित है। वह अपने रूप से अभिन्न है। रस की प्रमेयता पर होने वाले आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि—यद्यपि 'काव्यार्थ की भावना के द्वारा आत्मानन्द का आस्वाद होता है, इस कथन के अनुसार रस आस्वाद रूप ही है। आस्वाद के अतिरिक्त कोई आस्वाद्य वस्तु रस नहीं है तथापि रसः स्वाद्यते (रस आस्वादित होता है) इत्यादि प्रयोग कल्पित भेद मान कर किये हुए समझने चाहिए।...रस में रस्यमानता ही सार रूप होती है, अतः रस, प्रकाश शरीर (ज्ञान रूप) से अन्य नहीं। इसी तरह इस प्रकार के अन्य स्थानों में भी उपचार से किया हुआ गौण प्रयोग जानना—यद्यपि "स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्द-समुद्भवः इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम् तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य........तदुक्तम्-रस्यमानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः इति। एवमन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोग ज्ञेयः।"

(उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ ने रस का गम्भीर विवेचन किया है।) उनका रस शब्द व्यापक अर्थ में रसाभास, भावाभास भावसन्धि, भाव शबलता भावोदश, भाव शान्ति आदि को भी अपने में समाहित किए हुए है।

(आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य लक्षण में स्थान देकर उसे अत्यन्त महत्व-पूर्ण बनाया है। अतः रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में आचार्य विश्वनाथ का महत्व अन्यतम है।)

प्रश्न २२—साधारणीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस विषय में आचार्य विश्वनाथ के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद को लेकर गम्भीर चर्चा हुई है। इस चर्चा में रस को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रसानुभूति सामाजिक को होती है, काव्य में व्यक्त भाव सभी सहृदयों को समानरूप से कैसे आनन्दित करते हैं? रामादि पात्रों तथा उनके भावों का पाठकों, दर्शकों से तादात्म्य कैसे हो जाता है? दर्शक या पाठक एक साथ भाव विभोर कैसे हो जाते हैं? रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटक में रतिभाव सामाजिक के नहीं होते हैं, और शत्रु के भी नहीं होते, मित्र के भी नहीं, तटस्थ के भी नहीं, किन्तु भावानुभूति होती अवश्य है, अतः निषेध भी नहीं किया जा सकता है किन्तु एकनिष्ठ स्वीकृति भी नहीं की जा सकती है। इसी समस्या के समाधान के लिए आचार्यों ने 'साधारणीकरण' को जन्म दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः ।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

अर्थात् "जो सीता आदि आलम्बन विभाव और वनवास आदि उद्दीपन विभाव काव्यादि में निबद्ध होते हैं, वे काव्यानुशीलन तथा नाटक दर्शन के समय श्रोता और द्रष्टाओं के साथ अपने को सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं। यही साधारणीकरण (साधारणीकृति) अर्थात् रामचन्द्रादि नायक तथा सामाजिक के साथ समान रूप से सम्बन्ध रखना—इनको अपना साधारण आश्रय बनाना ही विभावादिकों का 'विभावना' नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता (द्रष्टा, श्रोता) अपने को समुद्र को कूद जाने वाले हनुमानादिकों से अभिन्न समझने लगता है। यद्यपि समुद्र लांघना मनुष्य से साध्य नहीं, तथापि हनुमानादि के साथ अभेद—प्रतिपत्ति के बल से सामाजिकों के हृदय में भी वैसा उत्साह होने लगता है।"

आचार्य विश्वनाथ ने 'विभावन' व्यापार को महत्व दिया है। आचार्य विश्वनाथ से पहले भट्टनायक ने इसी व्यापार को 'भावकत्व' (भावकताशक्ति) कहा था, जिस व्यापार से सहृदय सामाजिक कवि वर्णित विषय से साधरणीकृत आनन्द प्राप्त करने लगता है। इसी को 'विभावादि का साधारणीकरण' भी कहते हैं। इसके अनन्तर सामाजिक काव्यवर्णित विषय से अपने पराये का भेद भूलकर रसास्वाद ग्रहण करने लगता है, इस व्यापार को भट्टनायक ने 'भोजकत्व नाम दिया था।

अभिनवगुप्त ने इसे व्यंजना का व्यापार माना था, जो कि अलौकिक रूप में विभावादि को साधारणीकृत में प्रस्तुत करती है। आचार्य विश्वनाथ ने भट्टनायक के भाव्यभावक सम्बन्ध को स्वीकार करने की अपेक्षा अभिनव के अनुसार व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध माना है। इसलिए वे भावकत्व व्यापार की चर्चा नहीं करते हैं। इस प्रसंग की समीक्षा करते हुए सुधीसमीक्षक डॉ० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि "अपितु विभावादि के विभावनादि व्यापार का एक नाम रखा है जिसे 'साधारणीकरण' कहा जा सकता है। किन्तु यह साधारणीकृति व्यंजना रूप ही विलक्षण व्यापार है न कि अन्य कुछ, जैसाकि विश्वनाथ कविराज के इस सिद्धांत से स्पष्ट है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।।

साधारणीकरण की चर्चा में आचार्य विश्वनाथ एक प्रश्न अल्पशक्ति मनुष्य मात्र को समुद्र लंघन जैसे दुष्कर कार्य में कैसे उत्साह होता है ? इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि—

"जबकि काव्य नाट्य की 'साधारणीकृति' की शक्ति से सामाजिकों के हृदय में महावीर रामादि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना जाग उठी तब यदि प्रत्येक सामाजिक का हृदय, भले ही वह लोक जीवन का एक साधारण

मानव हृदय हो, समुद्रसंतरण सरीखे भयंकर वीरकर्मों के प्रति भी उत्साहादि महाभावों से भर उठे और असम्भव बनाने की शक्ति का अनुभव करने लगे तो आश्चर्य क्या और आपत्ति क्या ?

उत्साहादिसमुद्‌बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रोदिलंघनादौ न दुष्यति ।।

इसी प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ—शृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदि भी काव्य नाट्यादि में साधारणीकृत रूप में प्रतीत होते हैं, इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्‌वत्प्रतीयते ।

अर्थात् "यदि रंगस्थल में बैठे सभ्यों को अपने में विशेषरूप से रत्यादि का ज्ञान हो तो लज्जा, भय आदि उत्पन्न हो जाय और यदि रामणादि अन्य पुरुष गत रति आदि का विशेष रूप से ज्ञान होता हो तो जैसे लोक में दूसरों का रहस्य दर्शन अरस-नीय होता है इसी प्रकार काव्य नाट्य के रस भी अरस्य हो जाय । इसीलिए रत्यादिक साधारणता से ही प्रतीत होते हैं ।"

विभावादिक भी साधारणीकृत ही प्रतीत होते हैं । साथ ही साधारणीकरण व्यापार के सर्वप्रथम प्रभाव का विवेचन करते हुए कविराज ने लिखा है कि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।

अर्थात् "रसास्वाद के होने में सर्वप्रथम सामाजिकों को यह प्रतीत हुआ करता है, जैसा कि स्वाभाविक है, कि न तो समुद्र लंघनादि व्यापार उनसे भिन्न रामादि नायकों के हैं और न यही कि वे रामादि नायकों के नहीं हैं इतना ही क्यों, न तो उन्हें यह अनुमान होता है कि काव्य नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं । बात यह होती है कि काव्य नाट्य समर्पित समस्त वस्तुओं 'स्वगत' और परगत के भेदभाव से परे पहुँच कर सर्वसाधारण के समान अधिकार की वस्तुयें बन जाया करती हैं और इसलिए निर्द्वन्द आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हुआ करती हैं । (डॉ० सत्यव्रतसिंह साहित्य-दर्पण पृ० १२०)

लौकिक विभावादि से अलौकिक आनन्द कैसे प्राप्त होता है ? इनका विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ।

अर्थात् "लोकगत रत्यादि भावों के कारण कार्य और सहकारी तत्व काव्य

नाट्य के क्षेत्र में उतरते ही विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं। तब इनका अलौकिक होना अथवा कहा जाना इनका दोष क्यों, वस्तुतः गुण ही माना जाया करता है।"

इस कारिका में आदि शब्द का प्रयोग-विभावन के अतिरिक्त-अनुभावन और सञ्चारण का सूचक है। इनकी व्याख्या करते हुए आचार्य ने लिखा है कि—

विभावन—वह व्यापार है जो सामाजिक के रत्यादिकों को आस्वादोत्पत्ति (रसोद्बोध) के योग्य बनाता है "तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरण योग्यतानयनम्।"

अनुभावन—विभावन व्यापार के द्वारा आस्वाद के योग्य हुए रत्यादि को तुरन्त ही रसरूप में परिणत क र देने वाले व्यापार का नाम अनुभावन है—"अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादि रूपतया भावनम्।"

संचारण—विभावना और सञ्चारण व्यापारों से अंकुरित और पल्लवित रत्यादि को अच्छी तरह सञ्चारित कर देने का नाम सञ्चारण है—संचारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।

लोक में सीता आदि विभाव रामादि की रति के कारण होते हैं और भ्रूविक्षेपादि उस रति के कार्य होते हैं एवं हास्य लज्जा आदि रति के सहकारी मात्र होते है, परन्तु रसोद्बोध में तीनों को कारण कैसे मान लिया गया है, इस प्रकार का समाधान करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि—

कार्यकारणसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥

अर्थात् लोक में कार्य, कारण तथा संचारी रूप होने पर रसोद्बोध में विभावादिक कारण ही माने गए हैं, ये सभी रसोद्बोध में सहयोगी होते हैं।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि इन सभी की एक रस के रूप में प्रतीति कैसे होती है जबकि भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कार्य होने चाहिए इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि—सर्वप्रथम विभावादि अलग-अलग प्रतीत होते हैं, उस समय उन्हें हेतु कहा जाता है। इसके बाद भावना के बल से और व्यंजना की महिमा से अस्वाद्यमान सब सम्मिलित विभावादिक सहृदयों के हृदय में प्रपानक रस की भाँति, अखण्ड एक रस के रूप में परिणत हो जाते हैं—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादि सचेतसाम्।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो, रसो भवेत्॥

आशय यह है कि साधारणीकरण विभावादि का अलौकिक व्यापार है, जिससे पाठक रसानुभूति करता है। विभावादि सम्मिलित रूप में प्रपाणक रस के समान

आस्वाद का रूप धारण करते हैं। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि विश्वनाथ ने विभावन को तो भट्टनायक के समान ही माना है किन्तु अनुभावन और संचार नामक दो व्यापार विशेष माने हैं। रसादि को आस्वाद योग्य बनाना विभावन है, यही भट्टनायक का भावकत्व है तथा विभावित रत्यादि को रस रूप में लाना अनुभावन है और इनका सम्यक् रूप से चारण किया जाना संचारण कहलाता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सहृदय आश्रय के साथ तादात्म्य विश्वनाथ को अभीष्ट है तथा उनके मत में आलम्बन, आश्रय और पाठक आदि सभी का साधारणीकरण होता है।

प्रश्न २३—"रस अनुकार्य अनुकर्तृगत न होकर सहृदय सामाजिकगत है।" इस कथन की समीक्षा आचार्य विश्वनाथ की मान्यताओं के प्रसंग में कीजिए।

अथवा

रस अलौकिक और अनिर्वचनीय है। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ की विचारधारा का विस्तृत विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ कवि वर्णित विभावादि के व्यंग्यव्यंजक भाव रूप संयोग से रस निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह रसास्वाद साधारणीकृत रत्यादिभाव ही है। जो कि सहृदय सामाजिक की वासना में विराजमान रत्यादि भाव है :—'सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादिभावः।'

अब प्रश्न यह है कि रस अनुकार्यगत है या अनुकर्तृगत। इस प्रश्न का विवेचन करते हुए भरत के रस सूत्र के व्याख्याकार भट्ट लोल्लट ने लिखा था कि "रस अनुकार्यगत है," इस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जो लोग रस को अनुकरणीय (रामादि) निष्ठ मानते हैं वह उचित नहीं है क्योंकि—परिमित लौकिक और सान्तराय होने के कारण अनुकार्यनिष्ठ रत्यादि का उद्‌बोध रस नहीं हो सकता—

परिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्‌बोधो न रसो भवेत्॥

"कारण यह है कि काव्य-नाट्य का जो 'रस' है वह तो असंख्य सामाजिकों का 'आस्वाद' है और राम आदि का 'रस' रामादिगत ही लौकिक सुख दुःख का अनुभव रूप हो सकता है। काव्य-नाट्क का 'रस' आलौकिक विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होता है जबकि रामादिगत रत्यादिभाव की उत्पत्ति उन लौकिक सीतादिरूप कारणों, कार्यों और सहकारी कारणों से हुआ करती है। काव्य नाट्य के 'रस' के लिए काव्य श्रमण और नाट्य-दर्शन की आवश्यकता है और रामादि के रत्यादिभाव के अनुमान के लिए रामादि का समकालीन होना अपेक्षित है। रामादि के रत्यादिभाव के अनुभव से सहृदय सामाजिक में लज्जा-आतंक आदि उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अपने वासना स्थित रत्यादिभाव के 'आस्वाद' में सहृदय चमत्कृत हुआ करता है।"

इस विषय में **दूसरा मत आचार्य शङ्कुक** का है कि रस अनुकर्तृगत होता है। आचार्य विश्वनाथ इस मत को अस्वीकार करते हुए लिखते हैं कि : अभिनय की शिक्षा तथा अम्वासादि के कारण रामदि के रूप का अभियन करने वाला नट, रस का आस्वादायिता नहीं हो सकता :—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरुपताम् ।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादकोभवेत् ॥

और यचि काव्यार्थ की भावना के द्वारा (केवल शिक्षाभ्यास से नहीं) नट भी अपने में रामादि की स्वरूपता दिखलाये तो वह भी रसास्वादक होने के कारण सभ्य गिना जा सकता है—

काव्यार्थभावनेनायमपिसभ्यपदास्पदम् क्योंकि "अनुकर्त्ता अथवा नट तो अंग, वाणी, वेश और सत्व के अभिनय की कला और अभ्यासनिद्धि के ही द्वारा अपने आप को राम के 'सरूप' अथवा 'सदृश' दिखाया करता है, न कि विभावादि की भावना किया करता है। जो 'नट' अथवा अभिनेता विभावादि की भावना में बह जाय, वह अभिनय क्या करेगा ? वह ती नाट्य प्रदर्शक न रह कर नाट्य-दर्शक बन जायगा।"

आचार्य विश्वनाथ रस को ज्ञाप्य वस्तु भी नहीं मानते हैं क्योंकि जो वस्तु ज्ञाप्य हुआ करती है जैसे घट पट आदि उसके विषय में यही बात दृष्टिगत होती है कि उसके रहने पर भी कभी-कभी उसका ज्ञान नहीं होता है। किन्तु रस ऐसी वस्तु नहीं है कि जो रहे किन्तु उसका ज्ञान न हो। निश्चय ही अनुभूति के अतिरिक्त रस की सत्ता कहाँ जिससे उसे घट पटादि की भाँति ज्ञाप्य कहा जा सके—

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

अर्थात् "रस को ज्ञाप्य कहना असम्भव है क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव है कि अस्तित्व रखते हुए भी कभी वह अज्ञात रह सकती है। रस भला ज्ञाप्य कैसे ? जबकि उसके सम्बन्ध में यह संभव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उसका अनुभव न हुआ करे।"

रस कारणजन्य कार्य वस्तु भी नहीं है, क्योंकि यह तो विभावादि समहालम्बनात्मक अनुभव है, न कि विभावादि ज्ञान द्वारा उत्पन्न—

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ।

तस्मान्न कार्यः—

आशय यह है कि "यदि 'रस' को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण माना जायगा। अब यदि विभावादि ज्ञान का कारण हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि जब रसानुभाव हो रहा हो तब विभावादि का अनुभव नहीं हो सकता। क्यों ? इसलिए कि कारण ज्ञान और कार्य ज्ञान का एक समय में होना

कदापि सम्भव नहीं। ऐसा भला कहाँ कि एक ही समम में चन्दन के स्पर्श का ज्ञान होता रहे और उससे उत्पन्न सुख का भी अनुभव हो जाय। रस तो एकमात्र विभावादि समूहालम्बनात्मक संवेदन रूप है। इसलिये विभावादि ज्ञान भला रस का कारण कैसे ?''

रस नित्य वस्तु भी नहीं है क्योंकि विभावादि के परामर्श से पूर्व उसकी प्रतीति सम्भव नहीं है और जबकि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं तब उसे 'नित्य' मानना भी निरर्थक ही है :—

नो नित्यः पूर्व संवेदनोज्झितः।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते॥

यह नहीं है कि नित्य वस्तु अपने ज्ञान के ही समय रहे और अन्य समय नष्ट हो जाती हो, किन्तु रस ऐसा नहीं है। वह ज्ञानकाल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं, अतः नित्य भी नहीं हो सकता।

रस एक अनिर्वचनीय तत्व है, वह ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

इसके विषय में समस्त कल्पनायें निरर्थक हैं, वह अलौकिक और स्वसंवेदनशील तत्व है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—

नापि भविष्यत् साक्षादानन्दमय स्वप्रकाशरुपत्वात्।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि॥
विभावादिपरामर्श विषयत्वात् सचेतसाम्।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम्॥
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।
तथाऽभिलापसंसर्ग योग्यत्वविरहानन्त च॥
सविकल्प संवेद्यः

अर्थात् "रस भविष्यत् अर्थात् भविष्यकाल में होने वाला भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आनन्दघन और प्रकाश रूप साक्षात्कार (अनुभव) का विषय होता है। यदि भविष्यत् होता तो अनुभव में कैसे आता ? कल होने वाली वस्तु आज इष्टिगत नहीं होती। संसार की सभी वस्तुयें या तो कार्य होती हैं, या ज्ञाप्य। परन्तु उक्त रीति के अनुसार रस न कार्य है, न ज्ञाप्य; अतः उसे वर्तमान भी नहीं कह सकते।

रस को निर्विकल्प ज्ञान का विषय भी नहीं कह सकते। निर्विकल्पक ज्ञान में सम्बन्ध का भान नहीं होता और रस में विभावादि का परामर्श अर्थात् विशिष्ट वैशिष्ट्य सम्बन्ध प्रतिभाषित होता है। दूसरे निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता, परन्तु रस परमानन्दमय है, अतः उसमें आनन्दमयत्व प्रकारता से भाषित होता है, इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान रस का ग्राहक नहीं। इसी प्रकार रस को सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य भी नहीं मान सकते;

क्योंकि सविकल्प ज्ञान के विषयभूत सभी घट पटादि शब्द के द्वारा प्रकाशित किए जा सकते हैं, परन्तु इसमें अभिलापसंसर्ग (वचन प्रयोग) की योग्यता नहीं, अर्थात् रस को शब्द नहीं कह सकते। वह अनिर्वचनीय है।"

इस प्रकार विश्वनाथ 'रस' को शब्द वाच्य नहीं मानते हैं। उनके साथ रस को अलौकिक स्वसंवेदन संवेद्य कहने से, विश्वनाथ यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि रस के विषय में समस्त बौद्धिक कल्पनाएँ और विश्लेषण निरर्थक हैं। औठ रस न तो निर्विकल्पक और न ही सविकल्पक संवेदन का विषय है।

रस न परोक्ष है और न प्रत्यक्ष। क्योंकि रस को परोक्ष इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि यह साक्षात् अनुभव स्वरूप प्रतीत होता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि यह एक अलौकिक शब्द ज्ञान का विषय है—

साक्षात्कारतया न च।
परोक्ष स्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्द संभवात्॥

अन्ततः विश्वनाथ रस को अनिर्वचनीय कहते हुए उसे केवल सहृदय सामाजिकों द्वारा ग्राह्य मानते हैं—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।

यदि रस अलौकिक है, उसका ज्ञान भी सबको नहीं होता है फिर उसकी सत्ता में क्या प्रमाण है—"प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषांतम्"।

अर्थात् "स्व अर्थात् चर्वणा से अभिन्न (अस्वादस्वरूप) उस रस की सत्ता में सहृदय विद्वानों की चर्वणा ही प्रमाण है।"

यदि रस सर्वथा अनिर्वचनीय है कार्य नहीं है फिर भरत ने विभाव अनुभाव व्यभिचारण संयोग से उसकी उत्पत्ति क्यों कही है? इसका उत्तर देते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि—चर्वणा नामक व्यापार की उत्पत्ति होती है, उसी का उपचार से रस में भी प्रयोग किया जाता है, अतः रस के विषय में उत्पत्ति शब्द गौण है। वास्तव में रस उत्पन्न नहीं होता है।

रस एकान्ततः व्यंग तत्व है, उसका बोध व्यंजना व्यापार से ही सम्भव है—
अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपणे।

रसबोध में व्यंजना के अतिरिक्त अन्य सभी शब्दशक्तियाँ भी असफल हैं। वह तो केवल सहृदय सामाजिक ही एक मात्र प्रमाण हैं। जैसा कि अभिनव गुप्त ने भी लिखा है—

"अपि तु सहृदयस्य हृदय संवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभाव सुखादि विलक्षणः परिस्फुरति।"

आशय यह है कि रस सहृदय संवेद्य है। जिसे विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से सामाजिक साधारणीकरण की प्रक्रिया से अनुभव करता है।

प्रश्न २५—'करुण रस के आस्वाद' विषय पर आचार्य विश्वनाथ के विचारों का विस्तार से विवेचन कीजिए।

उत्तर—करुण रस का आस्वाद सुखात्मक है या दुखात्मक यह भारतीय साहित्य में चिन्तन का विषय रहा है क्योंकि प्रत्यक्षतः करुण से दुख की अनुभूति होती है। रस का स्वरूप आनन्दात्मक है अतः इस विवाद का जन्म हो जाता है।

वाल्मीकि के आदि काव्य की मूल प्रेरणा करुणा थी। करुण रस की स्थायी भाव शोक है—'शोक श्लोकत्वमागतः'। इस करुण रस की व्यापकता का इतना विस्तार हुआ कि श्रृंगारादि रसों को इसकी परिधि में ले लिया गया और भवभूति ने घोषणा भी की—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्
आवर्त बुद्‌बुद तरंगमयान्विकार।
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।

निश्चय ही "मानव हृदय को सुख की अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवण-शील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, कदाचित् इसी आधार पर उक्त स्थापना की मनो-वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

आनन्द वर्धन ने करुण रस में माधुर्य एवं आर्द्रता की स्थिति मानकर श्रृंगार और विप्रलम्भ से उत्तरोत्तर उत्कर्ष मानते हुए लिखा है। कि—

श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति ततस्तत्राधिकं मनः।।

आनन्दवर्धन का यह कथन सिद्ध करता है कि वे करुण रस को श्रृंगार से भी अधिक आनन्ददायक मानते हैं।

आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से सचेतस् व्यक्ति ही करुण रस की ओर आकृष्ट होते हैं अन्य नहीं। विश्वनाथ करुण रस को सुखात्मक मानते हैं—सहृदय व्यक्ति करुण रस के प्रसंग को देखता है, पढ़ता है और उसका आनन्द लेता है। यदि उसमें आनन्द की प्राप्ति न होती तो उसे कोई पढ़ता ही नहीं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रामणं तत्र केवलम्।। (३/११)

यही नहीं, विश्वनाथ के अनुसार काव्य में दुखद कारणों से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, यदि उनको दुख की प्राप्ति होती तो कोई भी उसकी ओर उन्मुख न होता—किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः। (सा. द. ३/५)

विश्वनाथ का विचार है कि यदि करुण रस को दुख का हेतु माना जाएगा

तो करुण रस प्रधान चरम आह्लादकारी रचना रामायण आदि ग्रंथ भी दुख के हेतु मानने पड़ेंगे—

तथा रामायणादीनां भविता दुख हेतुता ।

जबकि इनसे सहृदय सामाजिक को रसानन्द की प्राप्ति होती है ।)

करुण रस के सुखास्वाद के विषय में एक तर्क और भी है कि काव्य में वर्णित विभावादि लौकिक जगत् के कारणों से निम्न और विलक्षण होते हैं अतः करुण रस का स्थायी भाव शोक होने पर भी करुण आनन्द चमत्कार परक है—"लोक (जगत) के संश्रय (स्वभाव) से शोक हर्षादि के कारणरूप से प्रसिद्ध वनवासादि से लोक में लौकिक शोक आदि भले ही पैदा हुआ करें परन्तु काव्य से सम्बन्ध (संश्रय) होने पर वे कारण अलौकिक विभाव कहलाते हैं । अतः उन सबसे सुख ही होता है यह मानने में क्या क्षति है—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोक हर्षादयो लोके जायन्तां नामलौकिकाः ।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्य संश्रयात् ।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेऽभ्योऽपीति का क्षतिः ।।

इन कारिकाओं को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—"लोक-जीवन की दृष्टि से तो राम वनवास आदि घटनाएँ दुखद घटनाएँ ही हैं किन्तु ये ही घटनाएँ जब काव्य शास्त्र के क्षेत्र में उतारी जाया करती हैं तब दुख देना तो दूर रहा सुख देने लग जाती हैं । काव्य में लोक का यह आमूलचूल परिवर्तन इसलिए हुआ करता है क्योंकि लोक में तो वनवासादि घटनाएँ दुख का 'कारण' हुआ करती हैं और ऐसी कही भी जाया करती हैं किन्तु काव्य शास्त्र में आते ही इनमें विभावन की शक्ति का संचार हो उठता है जिससे सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का एक अलौकिक आस्वाद लेने लग जाता है और इसीलिए इन्हें एक अलौकिक शब्द जैसेकि विभाव शब्द से संकेतित किया जाया करता है । काव्य नाट्य की विभाव रूप दुखद घटनाएँ एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि किया करती हैं । दुख हेतु से सुख की सृष्टि कदाचित लोक में भी दिखाई देती है जैसेकि रति प्रसंग में दन्त क्षत और नख क्षत दुख नहीं अपितु सुख के ही देने वाले हुआ करते हैं । निष्कर्ष यह निकलता है कि लोक का नियम कुछ और है तथा काव्य शास्त्र का और । लोक का नियम है लौकिक दुख अथवा सुख के जनक तत्व लोक जीवन में दुख अथवा सुख दिया करते हैं इसके विपरीत काव्य शास्त्र (कला) का नियम है लोकजीवन की समस्त दुखद किंवा सुखद वस्तुएँ काव्य शास्त्र में आते ही विभावादि रूप में बदल जाया करती हैं और एकमात्र परमानन्दसन्दोहरूप रस की सृष्टि किया करती हैं । इस प्रकार जबकि काव्यलोक से विलक्षण तत्व है तब इसमें क्या आपत्ति कि वाक्य शोक वर्णना से आनन्द भावना हुआ

करती है।" डा० सत्यव्रतसिंह ने विश्वनाथ के इस मत का विमर्श प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि यहाँ करुण की रसरूपता की सिद्धि का एकमात्र अभिप्राय रस के स्वरूप का सर्वतोभद्र उन्मीलन है। रस की अनिर्वचनीयता जितनी करुण की रसरूपता की सिद्धि में होती है उतनी शृंगार की रसरूपता की सिद्धि में नहीं होती।

आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रसंग में एक और तर्क दिया है कि करुण रस के आस्वादन में जो अश्रुपातादि होते हैं उनका कारण करुण रस का दुखात्मक स्वरूप न होकर हृदय की द्रवणशीलता है। यह द्रवणशीलता आनन्द में भी प्राप्त होती है। अतः करुण चीखों को देखने और सुनने से जो आँसू गिरते हैं। उसका उत्तर देते हुए विश्वनाथ लिखते हैं कि—

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मतः।

आर्थात् "जैसे लोकगत हृदयविदारक दृश्य के देखने अथवा सुनने से लोगों का हृदय पिघल जाता है और उनकी आँखों से दुःख के आँसू निकल पड़ते हैं वैसे ही काव्य नाट्यगत करुण दृष्य के देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिकों का हृदय पिघल पड़ता है और उनकी आँखों से आनन्द के स्रोत बने आँसू बह चलते हैं।"

अब इस प्रसंग में एक प्रश्न और है कि आनन्दात्मक अनुभूति सभी को क्यों नहीं होती है। इसका उत्तर यह है कि 'वासना संस्कार विशेष के बिना रस का अस्वाद नहीं होता है'—

न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम्।

अपने इस कथन के समर्थन में विश्वनाथ ने धर्मदत्त का उद्धरण दिया है। जिसका आशय यह है कि—'वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासना रहित पुरुष तो नाट्यशाला में लक्कड़, दीवार और पत्थरों के समान ही पड़े रहते हैं।'

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्म संनिभाः।

आशय यह है कि विश्वनाथ कविराज करुण रस का आस्वाद आनन्दात्मक मानते हैं। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' दुःखदायी और कटु होता है किन्तु विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से वह सुखद और सुरुचिपूर्ण लगता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विभिन्न मसालों के सहयोग से कसैला करेला खाने में स्वादिष्ट लगता है। अतः निष्कर्ष यह है कि काव्य में करुण रस का आस्वाद आनन्दप्रद है। यह आनन्द ही काव्य का लक्ष्य है।

प्रश्न २६—साहित्यदर्पणकार और मम्मट दोनों ने शांत रस का समर्थन किया है, किन्तु दोनों आचार्यों में इसके स्थायी भाव के सम्बन्ध में मतभेद है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

प्रश्न २७—"मम्मट द्वारा निरूपित 'निर्देश' और विश्वनाथ के 'शम' में कोई तात्विक भेद नहीं है, केवल शब्द भेद है।" निर्वेद और शम के स्वरूप स्पष्ट करते हुए इस कथन कीविवेचना कीजिए।

अथवा

प्रश्न २८—"शांत रस के स्थायी भाव का विवाद पुरातन है।" विवेचन कीजिए।

उत्तर—भारतीय साहित्यशास्त्र में विवाद रहित और मान्यता प्राप्त रसों में शांत रस अन्तिम है। भरत ने यद्यपि शांत रस को रस रूप में मान्यता प्रदान नहीं की है, उसके विभावादि का विवेचन भी नहीं किया है किन्तु भरत ने शांत रस की सम्भावना से इन्कार भी नहीं किया है अपितु आठ रसों के विवेचन के अनन्तर उन्होंने शांत रस की सम्भावना स्वयं इस रूप में प्रस्तुत कर दी है—

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुर्ननिमित्तापायेव शान्त एवोपलीयते॥

ना. शा. षष्ठ अध्याय

शांत रस का पर्याप्त विरोध हुआ किन्तु अभिनव गुप्त ने उनका खण्डन कर शांत रस का रसत्व सिद्ध किया है तदनुसार—"एक शम को स्थायी तपस्या तथा योगियों के सम्पर्क को विभाव काम, क्रोध आदि के अभाव की अनुभाव और धृति, मति आदि को संचारी मानता हुआ शांत रस की कल्पना सम्पूर्ण रसांगों के साथ करता है। परन्तु दूसरा मत शम और शांत को पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तर्कों द्वारा शांत रस की पृथक सत्ता का निषेध करता है। कुछ के अनुसार निर्वेद शांत रस का स्थायी भाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक रस की तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियों को सम्मिलित रूप से शांत का स्थायी भाव मानने के पक्ष में हैं।"

अभिनवगुप्त ने इन मतों का खण्डन कर शांत रस का स्थायीभाव तत्वज्ञान को सिद्ध किया है। अभिनव के अनुसार—

"जिस प्रकार 'काम' रति आदि से अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रस स्वरूप में आस्वाद होकर प्रकट होती है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य की विशेष चित्त वृत्ति के योग्य से रस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। शांत रस यही है। निर्वेद को आचार्य ने शोक के प्रवाह को फैलाने वाली चित्तवृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकार से होती है। एक तो दारिद्रय आदि से दूसरे तत्व ज्ञान से। तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य सब स्थायियों को दबा देने वाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्व वाला भी है। पर यदि इस निर्वेद को शांत रस का स्थायी भाव माना जायेगा तो तत्वज्ञान को विभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि इसी से यह उत्पन्न

होता है। परन्तु इसे उचित नहीं माना गया। वास्तव में तत्वज्ञान से निर्वेद उत्पन्न नहीं होता, तत्वज्ञान ही निर्वेद या वैराग्य से उपजता है। शम और निर्वेद को समान स्वीकार करके शम और शांत में हास और हास्य की तरह सिद्ध और साध्य साधारण और असाधारण का भेद उन्होंने बताया। इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्क के बाद तत्व ज्ञान को ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।

अभिनव परवर्ती आचार्यों ने तत्वज्ञान को शांत का स्थायी भाव स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि यदि तत्व ज्ञान को स्थायीभाव स्वीकार कर लिया जाएगा तो ज्ञान को 'भाव' का स्थान देना पड़ेगा। यह सभी को स्वीकार नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि शम और शांत में उतना ही भेद है जितना कि हास और हास्य में। जब हास्य का स्थायीभाव हास हो सकता है तो शम क्यों नहीं। इसके अतिरिक्त सबसे महत्व-पूर्ण बात तो यह है कि भरत ने स्वयं शम को शांत का स्थायीभाव स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद माना है—'निर्वेद स्थायी भावोऽस्ति शांतोऽपिनवमो रसः' अर्थात् निर्वेद स्थायी भाव वाला शांत नवम रस है। भरत ने स्थायी भावों की गणना करने के बाद व्यभिचारी भावों के वर्णन करते समय निर्वेद को प्रथम व्यभिचारी भाव कहा है। निर्वेद को शम भी कहते हैं। मम्मट ने जिस निर्वेद को शांत रस का स्थायी भाव माना है वह निर्वेद दारिद्र्यादि प्रभव निर्वेद न होकर तत्वज्ञान प्रभव निर्वेद है।

आचार्य विश्वनाथ ने शांत रस का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

शान्तः शम स्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायण दैवतः।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तु निःसारता तु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः।

अर्थात् "शांत रस का स्थायीभाव शम, आश्रय, उत्तमपात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान लक्ष्मीनारायण हैं। अनित्यत्व दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में 'आलम्बन' होता है और ऋषि आदिकों के पवित्र आश्रम, हरिद्वार आदि पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन तथा महात्माओं का संग आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके सञ्चारी भाव होते हैं।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने 'शम' को शांत रस का स्थायी

भान माना है। उनकी इस मान्यता का आधार अभिनव का विचार-दर्शन है। अभिनव ने शम और निर्वेद को एक ही माना है क्योंकि जैसे 'शम' 'आत्मस्वभाव' है वैसे ही निर्वेद भी आतमस्वरूप रूप है।)तथा विश्वनाथ का शम भी वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकार चित्तता—"निरीहावस्थायां स्वातमविश्रामजं सुखम्।" इस अवस्था में मन अहंकार रहित होता है। उन्होंने लिखा है कि—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा।

अर्थात् "युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशा में अवस्थित 'शम' स्थायी ही शांत रस के स्वरूप में परिणत होता है। मोक्ष दशा का 'शम' नहीं, अतः उक्त शम में सञ्चारी आदि भावों की स्थिति विरुद्ध नहीं है।

आशय यह है कि मम्मट प्रतिपादित 'निर्वेद' और विश्वनाथ के शम में कोई भेद नहीं है। इसीलिए डा० सत्यव्रतसिंह ने मम्मट और आनन्दवर्धन के मतों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि—"इस प्रकार शांत के स्थायीभाव के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का 'तृष्णा क्षयसुख' के प्रति पक्षपात और आचार्य मम्मट का निर्वेद के प्रति पक्षपात एक ही तत्व के प्रति पक्षपात है। 'तृष्णाक्षयसुख' के स्थान पर आचार्य मम्मट ने निर्वेद का नाम इसलिए लिया है क्योंकि 'निर्वेद' नाट्यशास्त्र में परिगणित ४९ भावों में आता है किन्तु आचार्य मम्मट का 'निर्वेद' 'न शोचति न कांक्षति' अथवा 'तृष्णाक्षयसुख' का ही अभिप्राय रखता है। ध्वनिकार ने 'निर्वेद' के अभिप्राय के प्रकाशनार्थ 'तृष्णाक्षयसुख' का उल्लेख किया है। जोकि सर्वथा युक्तियुक्त है—

(विश्वनाथ का 'शम'('निरीहावस्थायां स्वातमविश्रामजं सुखम्')है न कि 'वैराग्य' आदि के द्वारा 'निर्विकार चित्तता' का। यह 'शम' आतमस्वभावरूप है, तत्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान रूप है और निर्वेद रूप है,) जैसा कि अभिनव का मत है—"शम आत्मस्वभावः स शमशब्देन मुनिना व्यपदिष्टः। यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते, निर्वेदशब्देन वा, तन्न कश्चिद् बाध ......आशय यह है कि निर्वेद और शम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों मूलतः एक हैं।

प्रश्न २९—आचार्य विश्वनाथ के 'वात्सल्य रस' विषयक दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए लिखिए कि आप इस रस को स्वीकार करते हैं अथवा नहीं?

उत्तर—'वात्सल्य' को रस के रूप में मान्यता बहुत बाद में मिली है। आचार्य मम्मट पुत्रादि विषयक रतिभाव को रसध्वनि के रूप में स्वीकार ही नहीं करते थे अतः मम्मट इसे 'भावध्वनि' स्वीकार करते हैं।

वात्सल्य को सर्वप्रथम श्रीकृष्ण और भोज ने रस के रूप में स्वीकार किया था। श्रीकृष्ण ने लिखा है कि—अन्ये तुकरुण स्थायी वात्सल्यं दशमोपि च"। इसी प्रकार भोज श्रृंगार प्रकाश के १/६ में वात्सल्य रस का उल्लेख करते हैं। कर्णपूर

गोस्वामी ने भोज का उल्लेख करते हुए ग्यारह रस माने हैं—उनके अनुसार शान्त, वात्सल्य और प्रेय नये रस हैं—"भोजस्तु वत्सल प्रेयभ्याम् एकादश रसाताचष्टे।"

वात्सल्य रस को स्वीकार करने वालों में आचार्य विश्वनाथ का नाम प्रधान है। उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' में इसके स्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन किया है, उसके विभिन्न अंगों, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, वर्ण देवता आदि का वर्णन किया है। उनके अनुसाम—"प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सल रस भी मानते हैं। इसमें 'वात्सल्य स्नेह' स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन होते हैं। आलिंगन, अंग-स्पर्श, सिरचूमना, देखना, रोमाञ्च, आनन्दाश्रुआदि इसके अनुभाव होते हैं। अनिष्ट की आशंका हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं। इसका वर्ण कमलगर्भ के समान और ब्रह्मा आदिक मातायें इसकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं—

स्फुटं चमत्कारियता वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिगनांग संस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः।

वात्सल्य या वत्सल रस की पूर्ण स्वीकृति और उसका विस्तृत व्याख्यान विश्वनाथ ने किया है। पूर्ववर्वी आचार्यों ने जब कभी वात्सल्य रस का संकेत या उल्लेख किया है, उसने दूसरे आचार्य का सहारा लेकर ही किया है। अतः हम कह सकते हैं कि "वात्सल्त के रसत्व की विधिवत स्वीकृति का श्रेय आचार्य विश्वनाथ को ही है।" आचार्य विश्वनाथ ने भी वात्सल्य रस को मुनीन्द्र सम्मत बतलाया है और यह भी लिखा है कि मुनीन्द्र की मति के अनुसार वात्सल्य दसवाँ रस है—

अथ मुनीन्द्र सम्मतो वत्सलः।

वैसे तो नाट्यशास्त्र में भी इस रस का उल्लेख है तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, शारंगदेव के संगीतरत्नाकार तथा 'मन्दारमरन्दचम्पू' में भी इस रस की चर्चा है। किन्तु इसकी वास्तविक प्रतिष्ठा विश्वनाथ ने ही की है। विश्वनाथ ने इसका उदाहरण कालिदास के रघुवंश से दिया है। जैसे—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥

अर्थात् "वह बालक रघु, धाई के कहे हुए वचनों को तुरन्त कह देता था। उसकी उँगली पकड़कर चलता था और प्रणाम करने को कहते ही नम्र हो जाता था। इसके पिता (महाराज दिलीप) के आनन्द को परिवर्धित करता था।

निःसन्देह वात्सल्य एक रस है इसमें स्पष्टतः एक चमत्कार रहता है अतः इसकी रस रूप में प्रतिष्ठा अत्यन्त आवश्यक थी। डा० सुधीन्द्र का मत है कि, "वस्तुतः 'वत्सल' रस केवल चमत्कार ही नहीं है वरन् वह उत्कृष्ट और आस्वाद योग्य भाव का परिपाक है, अतः इसकी मान्यता आवश्यक है।"

प्रश्न ३०—कविराज विश्वनाथ ने 'अद्भुत रस' की स्थिति सर्वत्र मानते हुए उसे प्रकृतिभूत रस माना है आप इससे कहाँ तक सहमत हैं।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने रस विवेचन प्रसंग में उसे लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा है। इससे स्पष्ट है कि वे रस के मूल में चमत्कार के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यह चमत्कार सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्तार है। किसी अलौकिक वस्तु को देखकर मन में विस्मय का आविर्भाव होता है। इसीलिए विश्वनाथ अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय को बतलाते हुए कहते हैं कि :—

अद्भुतो विस्मय स्थायिभावो गन्धर्वदैवतः। अर्थात् " 'अद्भुत' वह रस है जिसे 'विस्मय' के स्थायी भाव का अभिव्यञ्जन कहा जाता है।"

यह विस्मयानुभूति प्रत्येक रस के मूल में रहती है इसीलिए अद्भुत रस समस्त शृंगारादि रसों की प्रकृति है। विश्वनाथ ने अपने प्रतितामह कविपण्डित नारायण की मान्यता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—चमत्कार रस का सर्वस्व है अतः अद्भुत रस समस्त रसों की प्रकृति है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यदभुतो रसः ।
तस्माद दभुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। (सा. द. तृ. प.)

अर्थात् "यदि रस का सार चमत्कार (हृदय का विस्तार अथवा विस्मय) है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'चमत्कार' ही रस का सार है तब यह निःसंदिग्ध है कि समस्त रसों के अनुभवों में 'विस्मय' का ही अनुभव हुआ करता है और अद्भुत ही वह रस है जिसे 'शृंगार' आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है।"

डा० सत्यव्रतसिंह ने इस प्रसंग का विवेचन करते हुए लिखा है कि "चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' के रूप में रसास्वाद का जो विश्लेषण है उसमें भी 'चित्त विस्मृति' अथवा 'विस्मय' के अनुप्राणन का विश्लेषण किया जा सकता है। शृंगार-करुण आदि में 'चित्तद्रुति' और वीर-रौद्र आदि में 'चित्त दीप्ति' वस्तुतः 'चमत्कार' का ही स्वरूप है अथवा विस्मय का ही स्वभाव परिस्पन्द है। सभी रसों के आस्वाद में 'विस्मय' के इस अनुप्राणन के ही कारण कविपण्डित नारायण ने 'अद्भुत' रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट समस्त रसों में अन्तर्व्याप्त, समस्त रसों का अन्तर्नियामक

और समस्त रसों का सार माना है। सम्भवतः कविपडित नारायण का ही इस मान्यता का प्रभाव आलंकारिक भानुदत्त पर पड़ा है जिससे उन्होंने अपनी 'रसतरंगिणी' में श्रृंगारादि रसों के आनन्दचमत्कार में 'चित्तविस्तृति' अथवा विस्मय को ही अंग रूप में स्वीकार किया है—श्रृंगारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्रमनो-विस्तृतिरंगतया भासते तत्र श्रृंगारादयो रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः।"

वास्तव में विश्वनाथ ने इस विषय में अपनी टिप्पणी नहीं दी है फिर भी जिस समारम्भ से नारायण कवि को उद्धृत किया है वह इस बात का प्रमाण है कि वे भी इस मत से सहमत हैं।

संस्कृत साहित्य में पुरातन काल से ही रसों के प्रकृति विकृति प्रसंग पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। महाकवि या आलोचक नवरसों में से किसी एक को प्रकृति रस घोषित करते रहे हैं।

भारत के नाट्यशास्त्र के निम्न श्लोकों के आधार पर अभिनव गुप्त शान्त रस को प्रकृति रस घोषित करते हैं—

भावविकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद भावः प्रवर्तते।
पुर्नानिमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।

(ना. शा. ६/३३५-३६)

अभिनव लिखते हैं—"तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः विषयेम्यो विपरिवृत्या।"

इसी प्रकार भवभूति ने करुण रस को सभी रसों का प्रकृति रस कहा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्तबुद् बुदतरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्। (उ. रा. ३/४७)

एक करुण रस ही निमित्तभेद से विभिन्न रसों के मूल में विद्यमान है। श्रृंगारादि रस करुण रस के ही विवर्त्त हैं, जिस प्रकार बुदबुदतरंग आदि एक सलिल तत्व के ही विवर्त्त हैं।

भोजराज ने करुण और शान्त की अपेक्षा श्रृंगार रस को प्रकृति भूत रस माना है—

श्रृंगारवीर करुणाद्भुत रौद्रहास्य बीभत्स वत्सलभयानकशान्तनाम्नः
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।

(श्रृंगार प्रकाश खण्ड १ पृ० २)

आशय यह है कि रस विषयक 'प्रकृतिविकृतिभाव' पर संस्कृत साहित्य में

पर्याप्त चर्चा रही है। उसी का प्रभाव आचार्य विश्वनाथ पर है। चित्त की द्रुति या दीप्ति के मूल में नारायणपण्डित की तरह विश्वनाथ ने भी विस्मय को माना है इसे कुछ अंश तक स्वीकार किया जा सकता है।

प्रश्न ३१—विश्वनाथ कविराज के अनुसार नायक के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके भेदों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—"विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायी-भाव ही 'रस' है। विभाव दो हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उन्हें इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन्हीं के सहारे रस का संचार होता है—'आलम्बन नायका-दिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्'।"

संस्कृत साहित्य में नायक का विवेचन भरत से लेकर विश्वनाथ तक अनेक आचार्यों ने किया है। धनंजय के अनुसार "नाटक का नेता, विनीत, मधुरत्यागी दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, वाग्मी, प्रख्यात, कुलीन, स्थिर एवं कलावान होना आवश्यक है। वह बुद्धि उत्साह प्रज्ञा, स्मृति इत्यादि की समृद्धि से समन्वित तथा शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रदृष्टि वाला एवं धार्मिक भी होता है।

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी, रुढवंशः स्थिरो युवा।
बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञा कलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ (दशरूपक २।१-२)

कविराज विश्वनाथ ने भी लिखा है कि—दानी, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान्, लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी चतुर और सुशील पुरुष काव्यों में नायक होता है—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्त लोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता॥

विश्वनाथ का यह लक्षण धनंजय से प्रभावित है।

नायक के भेदों के विचार-विमर्श में आचार्यों की दो दृष्टियाँ रही हैं—नाटकीय और काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण। नाटकीय दृष्टिकोण, से भरत ने नायक चार प्रकार के माने हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त।

यही दृष्टिकोण प्रायः परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया है। विश्वनाथ ने लिखा है—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः॥

धीरोदात्त—धीरोदात्त नायक आत्म प्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अति गम्भीर, महासत्व—हर्ष और शोक से प्रभावित न होने वाला, स्थिर प्रकृति, विनय और स्वाभिमान से पूर्ण होती है—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ।।

(धीरोदात्त नायकों में श्रीराम और युधिष्ठिर आदि की गणना होती है ।)

२. (**धीरोद्धत**—धीरोद्धत नायक मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, शूर, अपनी प्रशंसा करने वाला होता है—)

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैधीरोद्धतः कथितः ।।

उदाहरणतः (वेणीसंहार नाटक में भीमसेन को देखा जा सकता है ।)

३. (**धीरललित**—धीरललित नायक निश्चिन्त प्रकृति एवं अत्यन्त कोमल स्वभाव वाला, विभिन्न कलाओं में निपुण और रुचि रखने वाला होता है—)

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

(उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका में उदयन का चरित्र देखा जा सकता है ।)

४. (**धीरप्रशान्त**—धीरप्रशान्त नायक के सामान्य गुणों से युक्त होता है और वह ब्राह्मण होता है—)

सामान्य गुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् ।

आचार्य विश्वनाथ ने श्रृंगार रस में उपर्युक्त नायकों के चार अन्य प्रकारों का भी उल्लेख किया है—

यही धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक—दक्षिण धृष्ट, अनुकूल और शठ-इन चार रूपों में चित्रित होकर इनके सोलह भेद होते हैं—

एभिर्दक्षिण धृष्टानुकूलशठ रूपिभिः षोडशधा ।

दक्षिण नायक—दक्षिण नायक वह है जिसे एक से अधिक रमणी जन के साथ समान अनुराग रखने वाला कहा जाता है—

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ।

जैसे—**स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-**
र्द्यूते रात्रिरियं जित कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तः पुरसुन्दरीः प्रतिमया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितंनाडिकाः ।।

प्रतिहारी की उक्ति है—"जब कि मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार पाकर महाराज से निवेदन किया—"महाराज ! कुन्तल की राजकुमारी तो स्नान से निवृत्त हुई प्रतीक्षा कर रही है, आज का दिन वैसे अङ्गराज की बहिन से मिलने का है, साथ ही कमला से द्यूत-क्रीड़ा में पहले ही आप आज की रात हार चुके हैं और महारानी को भी तो आज आपको मनाना है ।" तो महाराज निश्चय न कर सके कि क्या करें और दो तीन घड़ी चुपचाप पड़े रहे ।

इस श्लोक में चित्रित नायक दक्षिण है क्योंकि वह इसी चिन्ता में रहता है कि एक से अधिक प्रेमिका को कैसे प्रसन्न रखा जा सके।

धृष्ट नायक—धृष्ट नायक वह होता है जो निःशंक भाव से अपराध पर अपराध करके भी लज्जित नहीं होता है, भर्त्सना करने पर प्रभावित नहीं होता है और झूठ बोल कर अपने अपराध छिपाने का प्रयत्न करता है :—

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः॥

जैसे—**शोणं वीक्ष्य मुखं बिचुम्बितु महं यातः समीपं ततः।**
पादेन प्रहृतं तया सपदि तं धृत्वा सहासे मयि।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया वाष्पं सृजन्त्या सखे।
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपिवामभ्रुवः॥

प्रेमी की मित्र के प्रति उक्ति :

"क्रोध में भरी उस कामिनी का लाल मुख देखकर मैं चुम्बन करने के लिए उसके पास गया। तब उसने लात मारी। मैं झट से उसे (लात को) पकड़कर हंसने लगा। हे मित्र, उस समय कुछ न कर सकने के कारण आंसू बहाती हुई उस कुटिल भृकुटी वाली सुन्दरी का क्रोध भी याद आने पर बड़ा कौतूहल पैदा करता है।"

अनुकूलनायक—जो नायक एक नायिका (अपनी पत्नी) में ही अनुरक्त रहे, उसे अनुकूलनायक कहते हैं। अनुकूल एकनिरतः।

जैसे—**अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं।**
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः॥
किं त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियोनान्यतो।
दृष्टि निक्षिपतीति विश्वमियत्ता मन्यामहे दुःस्थितम्॥

सखी से नायिका का कथन है—"हे सखि, न तो मेरे वस्त्र ही रमणीय हैं और न गले का भूषण साफ सुथरा है। न अठखेलियों की चाल है और न उद्धत हंसी ही है (तात्पर्य यह है प्रियतम को रिझाने वाली कोई बात नहीं है) किन्तु और लोग भी यही कहते हैं। (मैं तो जानती ही हूँ) कि "सुन्दर स्वरूप होने पर भी इसका प्रियतम दूसरी स्त्रियों की ओर दृष्टि भी नहीं डालता।" बस, मैं तो इसी से संसार भर को (अपने सिवा) दुःख में समझती हूँ। इससे नायक का अनुराग इस एक ही नायिका में प्रतीता होता है।"

शठनायक—शठनायक वह कहलाता है जो अनुरक्त तो किसी एक से हो, परन्तु प्रकृत नायिका में भी ऊपरी अनुराग का प्रदर्शन करे, और प्रच्छन्नरूप से उसका अप्रिय करे—

शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति॥

जैसे—शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा,
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत्क्वाचक्षे, घृतयधुमलयत्वाद् बहु बचोविषेणा,
घूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति।

नायिका की चतुर सखी का नायक से कथन—"हे शठ, दूसरी नायिक की काञ्ची मणियों (करधनी के रत्नों) के शब्द को सुनकर, इस नायिका के आश्लेष के समय ही जो तू ने भुजबन्ध शिथिल किया था यह बात किससे कहूँ। मिले हुए शहद और घी के समान चिकनी चुपड़ी, मीठी-मीठी किन्तु विषमय तेरी बातों से विमोहित यह मेरी सखी कुछ नहीं समझती। घी और शहद बराबर मिलाने से विष हो जाता है। वह यद्यपि खाने में मीठा और स्निग्ध होता है, परन्तु परिणाम में मादक या मारक होता है।"

उपर्युक्त सोलह प्रकार के नायकों के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन भेद और भी होते हैं। इस प्रकार नायकों के अड़तालीस भेद होते हैं।

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन।
उक्ता नायक भेदाश्चत्वारिंशत्तथाष्टौ च॥

प्रश्न ३२—नायक के सात्त्विक गुणों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—नायक के सात्त्विक गुणों को 'सात्विक नायक के गुण' भी कहा जाता है : ये गुण आठ हैं। शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित एवं औदार्य—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसौ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्वजाः पौरुषा गुणाः॥

शोभा—शूरता, चतुरता, सत्य, महान उत्साह, अनुरागिता, नीच में घृणा, उच्च में स्पर्धा इन सबको उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के धर्म को शोभा कहते हैं—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः॥

कविराज विश्वनाथ ने इनमें से अनुरागिता का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

अहमेव मतो महीपते रिति सर्वः प्रकृति स्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥

अर्थात "महाराज अज का मैं ही अन्तरंग हूँ, यह बात सभी मंत्री समझते थे, जैसे समुद्र समस्त नदियों के जल को अपने में ले लेता है, इसी प्रकार महाराज अज भी सबकी बातें सादर सुनते थे। किसी की अवहेलना नहीं करते थे।" इसी भाँति शूरता आदि के भी उदाहरण समझने चाहिए।

विलास—धीरदृष्टि, मृगेन्द्र के समान गति एवं सस्मित वाग्व्यवहार के

समवाय को विलास कहते हैं—"धीरा दृष्टिगतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।" उदाहरण के लिए—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय सत्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एवः॥

अर्थात् "इसकी दृष्टि त्रैलोक्य के सामर्थ्य और उत्साह को तृण के समान तुच्छ समझ रही है और इसकी धीर तथा उद्धत गति पृथ्वी को भी नमित कर रही है। लड़कपन होने पर भी इसमें अत्यन्त गौरव है। क्या यह संदेह वीर रस चला आ रहा है? अथवा साक्षात् गर्व है।"

यह रामचन्द्र की उक्ति है, इसमें वाल्मीकि के आश्रम में कुश को देखकर उनकी स्वभावोक्ति है।

माधुर्य—घबराहट के कारणों के होने पर भी घबराना नहीं, यही माधुर्य है—संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम्।

गाम्भीर्य—भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि के उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहने को गाम्भीर्य कहते हैं—

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता।

जैसे—**आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।**
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकार विभ्रमः॥

अर्थात् "राज्याभिषेक के लिए बुलाने के समय, वनवास के लिए प्रवासित करने के समय मैंने उनके आकार में जरा भी अन्तर नहीं देखा।"

धैर्य—बड़े से बड़ा व्याघात उपस्थित होने पर भी अपने कार्य में डटे रहने का नाम धैर्य है—

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि।

उदाहरण—श्रुताप्सरो गीतिरपि क्षणेऽस्मिः
न्हर प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः
समाधिभेदप्रभवोभवन्ति ॥

अर्थात् "अप्सराओं का गाना सुनकर भी उस समय भगवान् शङ्कर अपनी समाधि भावना में तत्पर रहे। अन्तःकरण को वश में रखने वाले पुरुषों की समाधि भंग करने में विघ्न कभी समर्थ नहीं होते।"

तेज—अन्य के द्वारा आक्षेप और अपमान को प्राण जाने पर भी सहन न करना तेज है।

ललित—वाणी, वेष, शृंगार की चेष्टाओं में मधुरता का नाम "ललित" है।

औदार्य—प्रिय भाषण के सहित दान और शत्रु-मित्र में समानता को औदार्य कहते हैं।

प्रश्न ३३—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
नायक के सहायक, पीठमर्द, विट, विदूषक।

उत्तर—नायक के अनेक सहायक होते हैं। नायक के बहुदूरव्यापी और नायक से कुछ कम गुणों वाला नायक का सहायक 'पीठमर्द' कहलाता है—

दूरानुवर्तिनि स्थात्तस्य प्रासंगिकेतिवृत्ते तु।
किंचित्तदगुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः॥

उदाहरण के लिए रामायण में सुग्रीव आदि श्री रामचन्द्र के सहायक पीठमर्द हैं। यह अवान्तर चरित के नायक हैं और रामचन्द्रजी के सुदूरवर्ती चरित (रावणवध) में सहयोगी हैं। इनमें रामचन्द्र की अपेक्षा गुणहीन हैं।

श्रृंगार के सहायक—नायक के स्वामिभक्त, बातचीत, तथा हँसी-मजाक करने में चतुर, कुपितवधू के मान को दूर करने वाले और सच्चरित्र लोग विट, चेट तथा विदूषक आदि श्रृंगार रस में नायक के सहायक होते हैं, आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली और गन्धी आदि का ग्रहण होता है—

श्रृंगारेऽस्य सहाया विट चेट विदूषकाद्याः स्युः।
भक्तानर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः॥

विट—भोग-विलास में अपनी सम्पत्ति खो चुकने वाला, धूर्त्त, नृत्य, गीतादि कलाओं के एक अंश को जानने वाला, वेश्याओं की आव-भगत करने में प्रवीण, वार्त्तालाप में कुशल, मधुरभाषी और गोष्ठी में समाहृत पुरुष 'विट' कहलाता है—

संभोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्।

विदूषक—किसी पुष्प अथवा वसन्तादिक पर जिसका नाम हो और जो अपनी क्रिया, देह, वेष और भाषा आदि से हँसाने वाला हो, दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने मतलब का पूरा हो, आशय यह है कि अपने खाने-पीने की बात कभी न भूलता हो, उसे 'विदूषक' कहते हैं—

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥

राज्य की चिन्ता में राजा के सहायक का नाम मन्त्री है—अपने राज्य की चिन्ता और आवाप अर्थात् शत्रु आदि राज्य की चिन्ता में मन्त्री नायक का सहायक होता है—मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां।

अन्तःपुर के सहायक—राजा के रनवास में भी कुछ उसके सहायक होते हैं, जैसे—बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ शकार, कुबड़े आदि रनवास के सहायक होते हैं।

दण्ड के सहायक—मित्र, राजकुमार, आटविक, अधीन राजा लोग तथा सैनिक आदि, दुष्टों के दमन करने में राजा के सहायक होते हैं—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च।

धर्म कार्यों में सहायक—ऋत्विग्, पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी, वेदवेत्ता, तपस्वी लोग राजा के सहायक होते हैं।

उपर्युक्त सहायकों में पीठमर्द, मंत्री, पुरोहित आदि उत्तम कोटि के होते हैं :—उत्तमाः पीठमर्दाद्याः। विट तथा विदूषक मध्यम कोटि के होते हैं—मध्यौ विट विदूषकौ। तथा शकार, चेट, तमोली, गन्धी आदि अधम कोटि के सहायक होते हैं—तथा शकार चेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः।

प्रश्न ३४—विश्वनाथ के अनुसार नायिका-भेद का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

उत्तर—नायिका का सामान्य अर्थ है—नायक की प्रिया या नायक की पत्नी। नायिका भी नायक के समान सामान्य गुण सम्पन्न होती है। जैसे—त्यागी कृती, कुलीन, सुश्रीक, रूपवान, युवती उत्साही, प्रवीण, अनुरागी, तेजस्वी, शीलवान। विश्वनाथ ने लिखा है कि—नायिका स्वीया, अन्या और साधारण भेद से तीन प्रकार की होती है और यह नायक के सामान्य गुणों से सम्पन्न होती है :—

अथ नायिका त्रिभेदा स्वाऽन्या साधारणी स्त्रीति।
नायक सामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता॥

स्वीया—विनय, सरलता, आदि गुणों से संयुक्त, घर के कामों में तत्पर पतिव्रता स्त्री 'स्वकीया' नायिका कहलाती है—.

विनयार्जवादि युक्ता ग्रहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।

जैसे—**लज्जापर्याप्त साधनानि परभर्तृ निष्पिपासानि।**
अविनय दुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि॥

अर्थात् "लिज्जा ही जिनका पर्याप्तभूषण है, जो पर पुरुष की तृष्णा से शून्य है, अविनय करना जिन्हें आता ही नहीं, ऐसी सौभाग्यवती रमणी किन्हीं धन्य पुरुषों के घर में होती हैं।"

स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा—सापि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति।

स्वकीया के भेद—स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका पाँच प्रकार की होती हैं—(१) प्रथमावतीर्ण यौवना (जिसमें यौवन की छटा पहले पहले ही व्यक्त हुई हो)।

(२) प्रथमावतीर्ण मदनविकारा (जिसमें कामकलाओं के विलास पहले पहल ही व्यक्त हुए हों)।

(३) रतिवामा (जो रति में संकोच करे)।

(४) मानमृदु (जिसका मान चिर स्थायी न हो)।

(५) समाधिक लज्जावती (जो अत्यन्त लज्जा करे)।

प्रथमावतीर्ण यौवनमदन विकाररतौ वामा ।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ।।

मध्या—मध्या विचित्रसुरता प्ररुढ स्मरयौवना ।
ईषत्प्रगल्भ वचना मध्यमव्रीडिता मता ।।

मध्यास्वकीया नायिका पाँच प्रकार की होती है—

(१) विचित्र सुरता, (२) प्ररूढ़ स्मरा, (३) प्ररूढ़ यौवना, (४) ईषत्प्रगल्भ-वचना और (५) मध्यमव्रीडिता ।

स्वकीया प्रगल्भा—स्मरान्धा गाढ़तारूण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्त नायका ।।

अर्थात् प्रगल्भा नायिका छः प्रकार की होती हैं—(१) स्मरान्ध, (२) गाढ़-तारूण्या, (३) समस्तरतकोविदा, (४) भावोन्नता, (५) दरव्रीडा और (६) आक्रान्ता-नायका ।

मध्या और प्रगल्भा के अन्य भेद—मध्या और प्रगल्भा दोनों के ही धीरा, अधीरा और धीराधीरा अन्य भेद होते हैं । इस प्रकार यह छह भेद भी हैं । मध्या धीरा क्रोध करने पर, प्रियतम को सपरिहास वक्रोक्ति के द्वारा विद्ध करती है एवं धीराधीरा रोदन से और अधीरा पुरुष भाषण से खिन्न करती है—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे ।
प्रियं सोत्प्रास वक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ।
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।।

मध्या की तरह प्रगल्भा भी धीरा अधीरा, और धीराधीरा तीन प्रकार की होती है—उनमें से प्रगल्भा नायिका धीरा होती है तो वह अपने क्रोध के आकार को छिपा के बाहरी बातों में बड़ा आदर प्रकट करती है, परन्तु वह सूरत में उदासीन रहती है—

प्रगल्भा यदि धीर स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ।
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यदरान्बहिः ।।

प्रगल्भा धीराधीरा—यह नायक को व्यङ्गय भरे वचनों से कष्टित करती है—धीराधीरातु सोल्लुष्ठ भाषितैः खेदयत्यमुम् ।

अधीरा प्रगल्भा—अधीरा प्रगल्भा तर्जन भी करती है और ताड़न भी करती है—तर्जयेन्ताडयेदन्या ।

उपर्युक्त छहों नायिकायें नायक के प्रेम की अधिकता और न्यूनता के कारण दो-दो प्रकार की होती हैं—

......................प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।
कनिष्ठज्येष्ठ रूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ।।

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के कुल बारह भेद होते हैं और मुग्धा केवल एक प्रकार की होती है, अतः स्वकीया नायिका के तेरह भेद होते हैं—

मुग्धाप्रगल्भयोर्भेदास्तद्वद् द्वादश कीर्तिताः ।
मुग्धा त्वकैक तेन स्युः स्वीया भेदास्त्रयोदश ॥

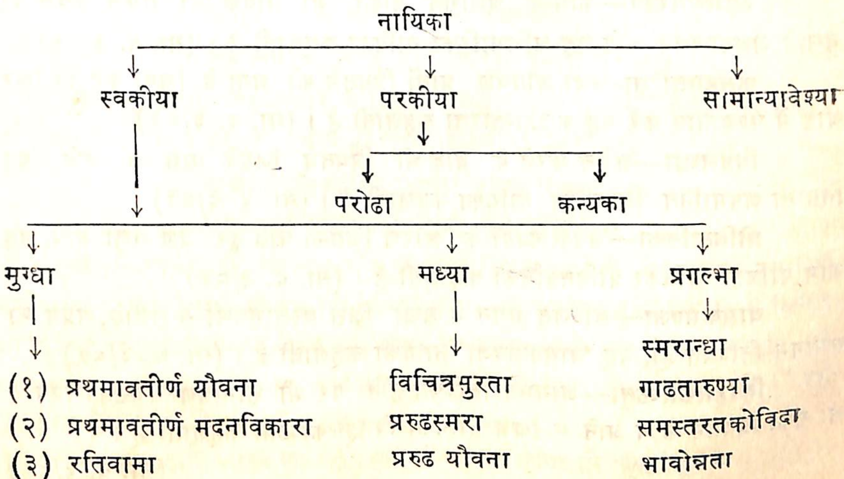
परकीया नायिका भेद—परकीया नायिका दो प्रकार की होती है—एक अन्य विवाहिता दूसरी अविवाहिता (कन्या) । यात्रा आदिक मेले तमाशों के इच्छुक निर्लज्जा कुलटा 'अन्योढ़ा' कहाती है—

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।
यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥

अविवाहिता सलज्जा नवयौवना 'कन्या' कहलाती है । यह पिता आदि के वशीभूत होने से परकीया कही जाती है, जैसे 'मालतीमाधव' की मालती । कन्यात्व जातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।

सामान्या नायिका—सामान्या नायिका वेश्या कहलाती है । यह धीरा, नृत्यागीतादि ६४ कलाओं में निपुण होती है । वह निर्गुण पुरुषों से द्वेष नहीं करती और गुणियों में अनुरक्त नहीं होती । केवल धन देखकर ऊपरी प्रेम प्रकट करती है । अच्छे प्रकार के स्वीकृत पुरुष भी यदि धनहीन हो जाय तो उसे अपनी माता से कहकर निकलवा देती है स्वयं नहीं निकालती क्योंकि फिर धनागम होने पर उससे मेल करने की इच्छा रहती है । चोर, पंडे (नपुंसक) मूर्ख अनायास प्राप्त धनवाले, ब्रह्मचारी, संन्यासी, आदि वेषधारी पृच्छन्न कामी पुरुष प्रायः इनके निकट आते हैं । कभी-कभी वेश्या भी काम के वशीभूत होकर वास्तविक अनुरागेपूर्ण हो जाती है उदाहरण के लिए मृच्छकटिक की वसन्तसेना । रागहीना का उदाहरण लटक मेलकादि में मदनमंजरी है । (सा. द. ३/६७-७१) ये भले ही अनुरक्त हों या विरक्त इनमें रति अत्यन्त दुर्लभ है—

रक्तायावा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ।



(४) मानमृदु	ईषद प्रगल्भवचना	दरव्रीडा
(५) समधिकलज्जावती	मध्यमव्रीडिता	आक्रान्त नायका

अन्य भेद

धीरा	धीरा
अधीरा	अधीरा
धीराधीरा	धीराधीरा
↓	↓
धीरा-ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
कनिष्ठा	कनिष्ठा
अधीरा-ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
कनिष्ठा	कनिष्ठा
धीराधीरा ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
कनिष्ठा	कनिष्ठा

इस प्रकार स्वकीया के तेरह भेद, परकीया के दो भेद और सामान्य एक मिलकर सोलह नायिकायें होती हैं। ये सभी अवस्था भेद से आठ प्रकार की होती हैं—(१) स्वाधीन पतिका, (२) खण्डिता, (३) अभिसारिका, (४) कलहान्तरिता, (५) विप्रलब्धा, (६) प्रोषितभर्तृका, (७) वासकसज्जा, (८) विरहोत्काण्ठिता।

अवस्थाभेद से नायिकाओं का स्वरूप :

स्वाधीन पतिका—रतिगुण से आकृष्ट प्रियतम जिसका संग नहीं छोड़ता वह विचित्र विलासों से युक्त स्वाधीन पतिका नायिका है। (सा. द. ३/७४)

खण्डिता—अन्य स्त्री के संसर्ग चिन्हों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित खण्डिता कहलाती है। (सा. द. ३/७५)

अभिसारिका—काम के वशीभूत होकर जो नायक को संकेत स्थल पर बुलाये अथवा स्वयं जाये वह अभिसारिका नायिका कहलाती है। (सा. द. ३/७६)

कलहान्तरिता—जो क्रोधवश प्रार्थी प्रियतम को भगा दे (मना कर दे) फिर बाद में पश्चाताप करे वह कलहान्तरिता कहलाती है। (सा. द. ३/८२)

विप्रलब्धा—संकेत करने के बाद भी प्रियतम जिसके पास न आये, वह नितान्त अपमानित 'विप्रलब्धा' नायिका कहलाती है। (सा. द. ३/८३)

प्रोषितपतिका—अनेक कार्यों के कारण जिसका पति दूर देश चला जाय, वह काम पीड़िता नायिका प्रोषितपतिका कहलाती है। (सा. द. ३/८४)

वासकसज्जा—सज्जित भवन में सखी जिसे वस्त्राभूषणों से सजाये, प्रिय का समागम निश्चित हो, वह 'वासकसज्जा' नायिका कहलाती है। (सा. द. ३/८५)

विरहोत्काण्ठिता—आगमन निश्चित होने पर भी भाग्यवश जिसका प्रिय न आ सके, प्रियतम के न आने से खिन्न नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

(सा. द. ३/८६)

इस प्रकार १६ × ८ = १२८, ये एक सौ अट्ठाईस प्रकार की नायिकायें होती हैं। इन सभी के उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद हैं। (१२८ × ३ = ३८४) अतः समग्रतः तीन सौ चौरासी प्रकार की नायिकायें होती हैं।

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण।
चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिका भेदाः॥

प्रश्न ३५—नायिकाओं के अलंकारों का वर्णन कीजिये।

उत्तर—यौवनावस्था में सुन्दरियों में एक अनोखा लावण्य और माधुर्य आ जाता है, जो उनके सौन्दर्य को और भी अधिक मादक, प्रभावशाली और अभिराम बना देता है। संस्कृत के आचार्यों ने इस तत्व का गम्भीर अध्ययन किया है तथा इनको सात्विक अलंकार नाम दिया है। इन अलंकारों को सात्विक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये ऊपर से आरोपित न होकर स्वभावगत होते हैं। इनकी संख्या अट्ठाईस है—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः।

इनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अंगज, (२) अयत्नज और (३) स्वभावज।

अंगज अलंकारों का सीधा सम्बन्ध शरीर से है, ये तीन हैं—(१) भाव, (२) हाव और (३) हेला—

अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः।

भाव—जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्ध काम विकार को भाव कहते हैं—निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।

जैसे—वही वसन्त ऋतु है, वही मलय समीर है और वही यह रमणी है किन्तु आज इसका मन कुछ और ही दृष्टिगत होता है—

स एव-सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमनला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते॥

हाव—भृकुटी तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से सम्भोगाभिलाष का सूचक, मनोविकारों का अल्प प्रकाशक भाव ही 'हाव' कहलाता है—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।
हाव एवाल्पसंलक्ष्य विकारो हाव उच्यते॥

जैसे—"इन्द्र के आदेशानुसार हिमालय में कामदेव के मायाजाल प्रसारित करने पर जब पार्वती को देखकर शिवजी का चित्त चञ्चल हुआ उस समय खिलते हुए कदम्ब के फूल के समान अपने मृदु अङ्गों से मनोगत भाव को प्रकट करती हुई कटाक्ष से युक्त वदनारविन्द से शोभित पार्वती कुछ तिरछी होकर खड़ी रही।" इस उदाहरण में पार्वती का 'हाव' स्पष्ट है।

हेला—मनोविकारों का प्रखर रूप में लक्षित होना ही 'हेला' है—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।।

उदाहरण—"नववधू के समस्त अङ्गों के सब बिलास तत्क्षण ऐसे प्रवृत्त हुए जिनसे उसकी सखियों को भी उसके मुग्धात्व पर सन्देह होने लगा ।"

अयत्नज अलंकार—अयत्नज अलंकार रमणी के व्यक्तित्व में अनायास ही परिलक्षित होते हैं, इनकी संख्या सात है, उनके नाम निम्न हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य और धैर्य—

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा ।।

यह सातों यत्नसाध्य नहीं होते हैं, यह सहज उत्पन्न होने वाले हैं ।

शोभा—"रूप, यौवन, ललित्य, सुखोपभोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता को शोभा कहते हैं, (सा. द. ३/९५) । **कान्ति**—स्मर विलास से बढ़ी हुई शोभा का नाम ही कान्ति है", (सा. द. ३/९६) । **दीप्ति**—अति विस्तीर्ण कान्ति का नाम' 'दीप्ति' है, (सा. द. ३/९६) । **माधुर्य**—समस्त दशाओं में रमणीय होने का नाम 'माधुर्य' है, (सा. द. ३/९७) । **प्रगल्भता**—निर्भयता का नाम 'प्रगल्भता' है, (सा. द. ३/९७) । **औदार्य**—सदा विनय रखना 'औदार्य' है, (सा. द. ३/९७) । **धैर्य**—आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति को 'धैर्य' कहते हैं, (सा. द. ३/९८) ।

स्वभावज अलंकार—स्वभावज अलंकार रमणियों में स्वभावसिद्ध होते हैं किन्तु वे सप्रयास प्रकट होते है, अनायास नहीं । इनसे पहले दश पुरुषों में भी होते हैं—

स्वभावजाश्च भावाद्या दशपुंसां भवन्त्यपि ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिञ्चित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि मोट्टायित एवं कुट्टमित ।

लीला विलासो विच्छित्तिर्बिब्बोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ।
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशासंख्यताः ।।

लीला—अनुराग की अधिकता के कारण अङ्ग, वेष, अलंकार तथा प्रेम भरे वचनों से प्रियतम के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं । प्रियवस्तु के दर्शन आदि से गति, स्थिति, आसन आदि की तथा मुख नेत्रादि के व्यापारों की विशेषता को **'विलास'** कहते हैं । **विच्छित्ति**—कान्ति को बढ़ाने वाली थोड़ी भी वेष-रचना 'विच्छित्ति' कही जाती है । **बिब्बोक**—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तु में भी अनादर दिखाना विव्वोक कहलाता है । अप्रियतम वस्तु के मिलने आदि के कारण उत्पन्न हर्ष से कुछ मुस्कान, कुछ रोदनाभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध, कुछ श्रम इत्यादि के

विचित्र मिश्रण को **'किलकिञ्चित'** कहते हैं। **मोट्टायित**—प्रियतम की कथा आदि के प्रसङ्ग में अनुराग भाव से व्याप्त चित्त होने पर कामिनी की कान खुजाने की चेष्टा को 'मोट्टायित' कहते है। **कुट्टमित**—केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण करने से हर्ष होने पर भी घबराहट के साथ शिर और हाथों के विशेष परिचालन को 'कुट्टमित' कहते हैं। **विभ्रम**—प्रियतम के आगमन आदि के समय हर्ष और अनुराग आदि के कारण जल्दी के मारे भूषणादि का और किसी जगह धारण कर लेना 'विभ्रम' कहा जाता है। **ललित**—अङ्गों का सुकुमारता से रखना 'ललित' कहलाता है। **मद**—सौभाग्य, यौवन आदि के घमण्ड से उत्पन्न मनोविकार को 'मद' कहते हैं। **विहृत**—लज्जा के कारण कहने के समय भी बात न कहना 'विहृत' कहाता है। **तपन**—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं को 'तपन' कहते हैं। **मौग्ध्यं**—ज्ञात वस्तु के विषय में भी वल्लभ से अनजान के रूप में पूछना 'मौग्ध्य' कहलाता है। **विक्षेप**—वल्लभ के समीप भूषणों की आधी रचना और बिना कारण ही इधर-उधर देखना, एवं धीरे से कुछ रहस्व कहना 'विक्षेप' कहलाता है।

कुतूहलम्—रमणीय वस्तु को देखने के लिए चञ्चल होना 'कुतूहल' कहलाता है। **हसितं**—यौवनोद्गम के कारण अकारण हास को 'हसित' कहते हैं। **चकितम्**—प्रियतम के आगे आकरण ही डरना और घबराना 'चकित' कहा जाता है। **केलि**—कान्त के साथ विहार में कामिनी की क्रीड़ा को 'केलि' कहते हैं।

प्रश्न ३६—अनुभाव का लक्षण लिखकर उसके भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—स्थायी भाव के अनन्तर प्रकट होने वाली मानसिक और शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रिया अनुभाव है। आचार्य धनजंय ने अनुभाव की परिभाषा इस प्रकार लिखी—

रत्यादि स्थायी भाव को सूचित करने वाले विकार (जो आश्रम में पाये जाते हैं) अनुभाव कहलाते हैं—अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः। (दशरूपक ४/३) आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अनुभाव का लक्षण निम्न है—सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से रामादि के हृदय में उद्‌बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करने वाला, लोक में जो रति का कार्य कहलाता है, वही काव्य और नाट्य में अनुभाव कहा जाता है—

उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—अनुभव कराने वाला अथवा स्थायीभाव के पीछे उद्‌बुद्ध होने वाला। अनुपश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः। अनुभाव को स्पष्ट करने के लिए हम यह भी कह सकते हैं कि आलम्बन विभाव के द्वारा उद्दीप्त हो जाने पर स्थायी भाव के आश्रय की जो चेष्टा होती है, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं।

अनुभावों की संख्या निश्चित नहीं है, क्योंकि विभिन्न भावों के अनन्त अनुभावों

की योजना की जा सकती है फिर भी विद्वानों ने इन्हें निम्न वर्गों में विभक्त किया है—

(१) सात्विक अनुभाव, (२) कायिक अनुभाव, (३) मानसिक अनुभाव, (४) आहार्य अनुभाव और (५) वाचिक अनुभाव।

आचार्य विश्वनाथ ने सात्विक अनुभावों के वर्णन प्रसङ्ग में लिखा है—

सत्वगुण से उत्पन्न विकार सात्विक कहलाते हैं विकाराः सत्वसंभूताः सात्विक परिकीर्तिताः। क्योंकि आत्मा में विश्रान्त होने वाले रस का प्रकाशक, अन्तःकरण का विशेष धर्म 'सत्व' कहलाता है अतः सात्विक अनुभाव कहना अधिक उचित है, वे निम्न हैं— स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथवेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृताः ॥

स्तम्भ—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण हस्त, पाप आदि की चेष्टाओं का रुक जाना 'स्तम्भ' है। सुरत, आतप, परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकलने वाले जल को **'स्वेद'** कहते हैं। हर्ष, आश्चर्य तथा भय आदि के कारण रोंगटों का खड़ा होना—**'रोमांच'** है। नशा, हर्ष तथा पीड़ा आदि के कारण गला भर आना—**'गद्-गद्'** कहा जाता है। राग, द्वेष तथा श्रम आदि से उत्पन्न शरीर के कम्प को **'वेपथु'** कहते हैं। विषाद, मद, क्रोध आदि के कारण उत्पन्न वर्ण विचार को **'वैवर्ण्य'** या विवर्णता कहते हैं। क्रोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रजल का नाम **'अश्रु'** (आँसू) है। सुख अथवा दुःख के कारण चेष्टा और ज्ञान के नष्ट हो जाने का नाम **'प्रलय'** है।

प्रमुख अनुभाव यही है, अतः अन्य का उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं।

प्रश्न ३७—संचारी भाव किन्हें कहते हैं और वे कितने हैं?

उत्तर—संचारी भावों को व्यभिचारिभाव भी कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने इनका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि विशेष रीति से मुख्य रसहेतु स्थायी भावों की ओर संचरण करने के कारण ये संचारी भाव व्यभिचारि भाव कहे जाते हैं। ये स्थिरता से विद्यमान स्थायी भावों में हमेशा आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं, इनकी संख्या तेंतीस है—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।

आचार्य धनंजय ने भी लिखा है कि—"जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते, डुबते-उतराते दृष्टिगत होते हैं, वे व्यभिचारी भाव होते हैं। ये भाव स्थायी भाव में इसी तरह उन्मग्न तथा निमग्न रहते हैं, जैसे समुद्र में तरङ्गें उठती तथा विलीन होती हैं।"

संचारी भावों की संख्या तेंतीस है। यद्यपि चित्त की वृत्तियाँ अनन्त हैं, अतः इनकी संख्या भी अनन्त है किन्तु न तो उनके नामकरण ही हुए हैं और न उनका

स्पष्ट स्वरूप ही है। अतः ये तेंतीस ही प्रधान हैं, अन्य चित्त की वृत्तियों का इन्हीं में समावेश हो जाता है। वे निम्न हैं—

निर्वेद, दैन्य, आवेग, ग्लानि, विषाद, शंका, मोह, मद, अमर्ष, श्रम, उन्माद, असूया, चिन्ता, औत्सुक्य, आलस्य, निद्रा, उग्रता, व्याधि, धृति, हर्ष, गर्व, मति, चापल्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्वप्न, विबोध, अपस्मार, स्मृति, त्रास, वितर्क, जड़ता, मरण (सा. द. ३/१४१)।

प्रश्न ३८—स्थायी भाव का विवेचन करते हुए उनकी संख्या तथा स्वरूप का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

उत्तर—स्थायी भाव को सामान्य अर्थ में 'भाव' भी कहा जाता है। काव्य में श्रृंगारादि रसों के मूल कारण मानव हृदय में स्थित 'भाव' होते हैं। मन के विकारों को भाव कहते हैं—"विकारो मानसो भावः।" मानव मन में अनन्त भाव होते हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। किन्तु जब ये भाव स्थायी हो जाते हैं। तब उन्हें 'स्थायी' भाव कहा जाता है। अन्य भाव इन्हीं में लीन होते रहते हैं। स्थायी भाव ही रसास्वाद के मूल कारण हैं, विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर यही रसरूप में परिणत हो जाते हैं। भरत के अनुसार ये नाटक के अर्थ को विभावित करते हैं—"वागङ्ग सत्वोपेतान् भावयन्तीति भावाः।" धनंजय ने लिखा है कि—जो भाव विरोधी और अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को अपने में शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकर (समुद्र) के समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओं को नमकीन बना देता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावै र्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।

आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी भाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥

अर्थात् "अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके वह आस्वाद का मूलभूत 'स्थायी' कहलाता है।"

इसको स्पष्ट करने के लिए विश्वनाथ ने लिखा है कि—"जैसे माला में अनेक दानों में एक ही सूत्र अनुगत होता है इसी प्रकार अन्य भावों में अनुगत होने वाला स्थायी किसी से तिरोहित नहीं होता, प्रत्युत पुष्ट हो जाता है।"

स्थायी भाव आचार्य विश्वनाथ के अनुसार निम्न हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च॥

इन स्थायी भावों का क्रमशः स्वरूप इस प्रकार है :—

रति—प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण अनुराग (उन्मुखीभाव) का नाम रति है—रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् । जब यह भाव पुष्ट होकर व्यक्त हो जाता है तभी शृंगार रस की निष्पत्ति होती है ।

हास—वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना 'हास' है—वागादि वैकृतैश्चेतो विकासो हास इत्यते ।

जब यह भाव पुष्ट होकर व्यक्त होता है तब हास्य रस की निष्पत्ति होती है ।

शोक—इष्टनाशादि के कारण चित्त की विकलता को शोक कहते हैं—

इष्ट नाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्द भाक् ।

जब यह शोक का भाव पुष्ट होकर प्रकट होता है, तब करुण रस की निष्पत्ति होती है ।

क्रोध—शत्रुओं के विषय में तीव्रता के उद्‌बोध का नाम क्रोध है—

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ।

जब क्रोध का भाव पुष्ट होकर प्रकट होता है तब 'रौद्र' नामक रस की निष्पत्ति होती है ।

उत्साह—किसी अच्छे कार्य करने के लिए मन में उत्पन्न उत्कट आवेश का नाम उत्साह है : कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते । उत्साह नामक मनोभाव के पुष्ट होकर प्रकट होने पर 'वीर' रस की निष्पत्ति होती है ।

भय—किसी अनिष्टकारी तत्व को देखकर अथवा सुनकर मन में उत्पन्न शंका अथवा घबराहट रूपी मनोविकार का नाम 'भय' स्थायी भाव है रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् । जब यह भय का भाव पुष्ट होकर व्यक्त होता है तब भयानक रस की निष्पत्ति होती है ।

जुगुप्सा—किसी कुरूप कुत्सित अथवा घृणित व्यक्ति, वस्तु अथवा विषय को देखकर या सुनकर मन में उत्पन्न होने वाला भाव घृणा है यही स्थायी होने पर, 'जुगुप्सा' नामक स्थायी भाव कहलाता है—दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्‌भवा ।

जुगुप्सा भाव के पुष्ट होकर व्यक्त होने पर वीभत्स रस की निष्पत्ति होती है ।

विस्मय—अलौकिक या चमत्कारपूर्ण वस्तु या दृश्य देखकर अथवा सुनकर मन में उत्पन्न होने वाला आश्चर्यपूर्ण विकार ही विस्मय नामक स्थायी भाव है ।

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।।

इस भाव से पुष्ट होकर व्यक्त होने पर अद्‌भुत रस की निष्पत्ति होती है ।

शम—किसी प्रकार की इच्छा न होने की अवस्था में आत्मा के विश्राम से उत्पन्न सुख का नाम 'शम' है—

शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ।

इस भाव के पुष्ट होकर काव्य में प्रकट होने पर 'शान्त' रस की निष्पत्ति होती है ।

वात्सल्य—आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को भी स्थायी भाव मानते हुए लिखा है कि—पुत्रादि की चपल क्रीड़ाओं से जो स्नेह हृदय में उत्पन्न होता है, उस भाव का नाम वात्सल्य है—

स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।

जब यह भाव पुष्ट होकर प्रकट होता है तब वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है।

उपर्युक्त रसों के उदाहरण के लिए—'मालतीमाधव' में रति, लटकमेलक में हास, रामायण में शोक और महाभारत में शम प्रधान ग्रन्थ देखे जा सकते हैं।

प्रश्न ३९—विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत काम की दशायें कौन सी हैं, उनके नाम तथा स्वरूप बतलाइये।

उत्तर—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि जड़ता और मरण ये दश काम दशायें विप्रलम्भ शृङ्गार में होती हैं—

अभिलाषश्चिन्तास्मृति गुणकथनोद्वेग संप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ।

इनके विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

अभिलाषा—इच्छा का नाम अभिलाष है—अभिलाषः स्पृहा।

चिन्ता—प्राप्ति के उपायादि की खोज का नाम चिन्ता है—चिन्ता प्राप्त्युपायादि चिन्तनम्।

उन्माद—जड़ चेतन का विवेक न रहना 'उन्माद' है। चित्त के बहकने से उत्पन्न अस्पष्ट बातों को 'प्रलाप' कहते हैं—अलक्ष्यवाक्यप्रलापः। व्याधि—दीर्घश्वास, पाण्डुता, दुर्बलता आदि 'व्याधि' होती हैं—व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वास पाण्डुता कृशतादयः। 'जड़ता'—अङ्गों तथा मन के चेष्टा शून्य होने का नाम जड़ता है—जड़ता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा। मरण को मृति कहते हैं।

प्रश्न ४०—रसों के पारस्परिक विरोध से आपका क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने रसों के परस्पर विरोधी रसों का भी उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

"शृङ्गार रस करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रसों के साथ विरुद्ध होता है। हास्य रस भयानक और करुण के साथ विरोध रखता है। हास्य और शृङ्गार के साथ करुण, हास्य, शृङ्गार और भयानक के साथ रौद्ररस, भयानक और शान्त रस के साथ वीर रस, शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त के साथ भयानक रस, वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य, भयानक के साथ शान्त रस और शृङ्गार के साथ बीभत्स रस विरोध रखता है—

आद्यः करुण बीभत्स रौद्र वीर भयानकैः ।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ॥

करुणो हास्य शृङ्गार रसाभ्यामपि तादृशः ।
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गार भयानकरसैरपि ॥
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ।
शृङ्गार वीर रौद्राख्य हास्यशान्तैर्भयानकः ॥
शान्तस्तु वीर शृङ्गार रौद्रहास्य भयानकैः ।
शृङ्गारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ॥

इन रसों के विरोध के शमन का उपाय रस दोष प्रसङ्ग के अन्तर्गत किया गया है। डा० सत्यव्रतसिंह ने परस्पर स्वभाव विरुद्ध रसों का सहाभिव्यंजन इन नियमों के अनुपालन में संभव माने हैं—

(१) आश्रय के भेद से सहाभिव्यंजन, जैसे कि नायक के आश्रय से वीर और प्रतिनायक के आश्रम से 'भयानक' का एकत्र अभिव्यंजन ।

(२) एक रस को परतन्त्र बनाकर उसके विरोधि रस का वहीं अभिव्यंजन ।

(३) एक मुख्य रस की अधीनता में दो विरुद्ध रसों का अभिव्यंजन ।

(४) अन्य रस के व्यवधान से दो परस्पर विरुद्ध रसों का अभिव्यंजन ।

———

चतुर्थ-परिच्छेद

काव्य-प्रकार-निरूपण

१. काव्य के भेद
२. ध्वनि
३. ध्वनि काव्य के भेद
४. गुणीभूतव्यंग्यकाव्य और उसके भेद

प्रश्न ४१—विश्वनाथ के अनुसार काव्य के भेदों का उल्लेख कर ध्वनिकाव्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४२—ध्वनिकाव्य का स्वरूप स्पष्ट कर उसके भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के भेद केवल दो माने हैं—ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य—

काव्यं ध्वनि र्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट चित्र काव्य 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' को विश्वनाथ ने स्वीकार नहीं किया है क्योंकि वाक्यं रसात्मकं काव्यम् के अनुसार रसात्मक काव्य ही उन्हें स्वीकार्य है। आशय यह है कि चित्रकाव्य उनके रसात्मक काव्य की सीमाओं में आता ही नहीं है।

ध्वनिकाव्य—ध्वनि शब्द का लक्षण और उसकी विस्तृत व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन ने की है। उनके अनुसार जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण बनाकर उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य को विद्वान ध्वनि काव्य कहते हैं—

ध्वनि का अर्थ सामान्यतः व्यङ्ग्य लिया जाता है परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिए 'वाच्यातिशायिनी व्यङ्ग्ये ध्वनिः।' इस प्राधान्य का एक मात्र आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष—'चारुत्वोत्कर्ष-

निबन्धना हि वाच्यव्यग्योः प्राधान्यविवक्षा।' इस प्रकार वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य का नाम ध्वनि है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने इन शब्दों में लिखा है—वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनि स्तत्काव्य-मुत्तमम्। अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक हो उसे 'ध्वनि' कहते हैं। वह उत्तम काव्य है। इसकी व्याख्या करते हुए डा० सत्यव्रत सिंह ने लिखा है कि "इस काव्य भेद में जो अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप से अवस्थित रहा करता है वह इतना सुन्दर, इतना चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है कि यहाँ का (आपातत प्रतीत) वाच्यार्थ उसके सामने फीका लगने लगता है। वस्तुतः यही काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। इसे ध्वनि इसलिए कहा करते हैं क्योंकि यही वह कविकृति है जिसमें वह अर्थ ध्वनित हुआ करता है जिसका सौन्दर्य वाच्यार्थ की पहुँच के परे रह जाता है।"

ध्वनिकाव्य के भेदोपभेद :

ध्वनि के दो भेद किये जाते हैं उनके नाम हैं अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य—

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितो लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च॥

अर्थात् "ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—एक लक्षणामूलक ध्वनि दूसरी अभिधा-मूलक ध्वनि। इनमें से पहली को 'अविवक्षित वाच्य और दूसरी को विवक्षितान्यपर-वाच्य' भी कहते हैं।"

अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्य—के भी दो भेद हैं—(१) अर्थान्तर संक्रमित ध्वनिकाव्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनिकाव्य—

अर्थान्तर संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते।
अविवक्षित वाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति॥

अर्थात् "अविवक्षित वाच्य ध्वनि वाक्य भी दो प्रकार का है पहला वाच्य अर्थान्तर में संक्रमित होने पर 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और दूसरा वाक्य के अत्यन्त तिरस्कृत होने पर 'अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य।"

अर्थान्तर संक्रमितवाच्य में वाच्यार्थ अपने आप में अनुपयुक्त या असम्बद्ध होकर किसी दूसरे व्यंग्य अर्थ में सक्रमित होता मालूम पड़ता है। जैसे—कदली-कदली ही है और करम-करम ही है। हाथी की सूँड़ भी हाथी की सूँड़ ही है। वस्तुतः इनमें से कोई भी उपमा देने योग्य नहीं है। मृगनयनी सीता के ये दोनों उरु (जंघायें) तीनों लोकों में अपना सादृश्य नहीं रखतीं।

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुग न तमूरुदृशः॥

इस श्लोक में दूसरी बार आये 'कदली' आदि पद यदि मुख्य अर्थ का ही बोधन करें, उस स्थिति में यहाँ पुनरुक्ति दोष होगा अतः वे मुख्यार्थ में बाधित होकर जाड्ययगुण विशिष्ट कदली आदि का बोधन करते हैं अतः यहाँ अर्थान्तर संक्रमित है। जाड्य आदि गुणों का अतिशय व्यंग्य है, यही लक्षणा का प्रयोजन है।

अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि—इस काव्य में वाच्यार्थ ऊपर से सार्थक प्रतीत होता है किन्तु मूलतः वह अपने आप में असंगत होकर सर्वथा तिरस्कृत मालूम पड़ता है और व्यंग्यार्थ का कारण बनता है—

उदाहरण के लिए—'चन्द्रमा बिलकुल नहीं चमक रहा है। ऐसा लग रहा है जैसे आकाश में श्वासोच्छ्वास से अन्धा (मलिन) दर्पण लटका हो'—"निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।" यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है क्योंकि यहाँ 'अन्ध' पद अपने मुख्यार्थ (दृष्टिहीनता) में सर्वथा अनुपपन्न है और एकमात्र प्रकाश रहित अर्थ का ही बोधक हो रहा है। यहाँ व्यंग्य से प्रकट अर्थ है—मलीनता (अप्रकाशता) का आधिक्य। यही लक्षणा का प्रयोजन है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—इस ध्वनि काव्य में 'वाच्यार्थ' अपने आप में विवक्षित या संगत तो रखता है, पर स्वयं तक ही सीमित न रह व्यंग्यार्थ रूप में परिणत होकर पूर्णता प्राप्त करता है। इसी का दूसरा नाम अभिधामूलक ध्वनिकाव्य है। इसके दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमध्वनिकाव्य, (२) संलक्ष्य क्रमव्यंग्यध्वनि-काव्य—

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा॥

इनमें से (१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उदाहरण रस, भाव आदि हैं। इन सबको एक माना गया है, क्योंकि अनन्त होने के कारण इनमें से किसी एक के भी भेदों की गणना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए अकेले संभोग श्रृंगार ही के एक भेद में परस्पर आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनेक भेद हैं। फिर उनमें भी विभावादि की अनेक विचित्रतायें हैं, अतः एक इसी रस की जब गणना सम्भव नहीं है फिर दूसरे रस के भेदों की गणना कैसे सम्भव होगी। अतः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि एक ही है।

(२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि**—जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बीच के क्रम का पता चल जाता है, या संलक्षित हो जाता है। "जिस प्रकार घंटा बजने पर पहले एक जोर का ठनाका होने के बाद 'अनुस्वान = क्रम से धीरे-धीरे उसकी मधुर-मधुर गूँज सुनाई पड़ती रहती है। इसी प्रकार ठनाके के सदृश वाच्य अर्थ के प्रतीत होने के अनन्तर जहाँ क्रम से व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है—वह काव्य 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' कहलाती है। इसके तीन भेद हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थशक्त्युद्भव और (३) शब्दार्थशक्त्युद्भव—

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः॥

यह अनुस्वान रूप ध्वनि शब्द, अर्थ और शब्दार्थ से प्रादुर्भूत होती है। शब्द शक्ति से उत्पन्न ध्वनि वस्तु और अलंकार के भेद से दो प्रकार की होती है—
वस्त्वलंकाररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

शब्दशक्त्युद्भव वस्तुरूप व्यङ्ग्य का उदाहरण—"हे पथिक, इस पहाड़ी गाँव में विस्तर अथवा शास्त्र तो बिल्कुल नहीं हैं। हाँ, यदि उठे हुए पयोधरों (स्तनों अथवा बादलों) को देखकर ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ।" यह पथिक से स्वयं दूती का कथन है। इसमें पहले तो यही ज्ञात होता है कि यहाँ विस्तर आदि तो नहीं है, हाँ उमड़े हुए बादलों को देखकर यदि रात्रि व्यतीत करना चाहते हो, तो ठहर जाओ। परन्तु बाद में उन्नत स्तनों को देखकर रुकना चाहते हो, तो रुक जाओ, यह भी अर्थ ध्वनित होता है।

शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कार रूप व्यंग्य—("दुर्गालङ्घित विग्रह०" २/१४) श्लोक में देखा जा सकता है। "जहाँ प्राकरणिक रूप से तो 'उमा' नाम की महारानी के पति महाराज भानुदेव का वर्णन किया गया है और अप्राकरणिक रूप से 'उमा' अथवा पार्वती के वल्लभ भगवान शिव का वर्णन रूपव्यंग्यार्थ प्रतीत हो उठता है। अब उमावल्लभ भानुदेव के वर्णन प्रकरण में पार्वती पति शङ्कर का अप्राकरणिक व्यंग्य रूप वर्णन असंगत न हो इसलिए भगवान् शङ्कर और महाराज भानुदेव में उपमानोपमेय भाव की कल्पना स्वाभाविक हो जाती है और इस प्रकार 'उमावल्लभ' (महारानी उमा के पति भानुदेव) उमावल्लभ (पार्वती पति शङ्कर) के समान हैं, यह उपमालङ्कार रूप अर्थ अभिव्यंग्य रूप से प्रतीत हो जाता है।"

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि—अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) स्वतः सम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तु रूप व्यंग्यार्थ
(२) ,, ,, ,, अलंकार रूप ,,
(३) ,, अलंकार रूप व्यंजक अर्थ से वस्तु रूप व्यंग्य अर्थ
(४) ,, ,, ,, अलंकार रूप व्यंग्य अर्थ
(५) कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु रूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तु रूप व्यंग्यार्थ
(६) ,, व्यंजक रूप अर्थ से अलंकार रूप व्यंग्यार्थ
(७) ,, अलंकार रूप व्यंजक अर्थ से वस्तु रूप व्यंग्यार्थ
(८) ,, ,, ,, अलंकार रूप व्यंग्यार्थ
(९) कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु रूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तु रूप व्यंग्यार्थ
(१०) ,, ,, ,, ,, अलंकार रूप व्यंग्यार्थ
(११) ,, अलंकार रूप व्यंजक अर्थ वस्तु रूप व्यंग्यार्थ
(१२) ,, ,, ,, ,, अलंकार रूप व्यंग्यार्थ

शब्दार्थशक्त्युत्थ ध्वनि एक होती है—इसमें शब्द और अर्थ की व्यंजकता शक्ति से व्यंग्यार्थ व्यक्त होता है, वह ध्वनि काव्य एक विध ही है।

उपर्युक्त समस्त ध्वनि के भेदों को संकलित करने पर यह अठारह प्रकार के ध्वनि काव्य हैं—

(१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि	१
(२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि	१
(३) असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि	१
(४) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि काव्य के दो भेद	२
(५) अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनि काव्य के बारह भेद	१२
(६) शब्दार्थोभय शक्त्युद्भव ध्वनि काव्य का एक भेद	१ = १८

उपर्युक्त ध्वनि भेदों के पदगत और वाक्यगत दो प्रकार के भेद होते हैं किन्तु शब्दार्थो भय शक्त्युद्भव ध्वनि केवल वाक्यगत होती है, अतः शेष १७ पद तथा वाक्यभेद से (३४+१=३५) ध्वनि के पैंतीस भेद हुए। आचार्य विश्वनाथ ने सोदाहरण विवेचन के बाद लिखा है कि—तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिशदिति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

उपर्युक्त ३५ भेदों के अतिरिक्त अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के प्रबन्धगत बारह भेद—

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के पदांशगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत चार भेद (३५+१२+४=५१) सभी मिलकर इक्यावन भेद सिद्ध होते हैं। यह ध्वनि के शुद्ध भेद हैं। इसके अतिरिक्त "त्रिविध साङ्कर्य, एकविध संसृष्टि के कारण प्रत्येक से परस्पर मेल के आधार पर, भेद-प्रभेद की गणना की जाय तब यह ध्वनि-भेद-संख्या ५३०४ और इनमें शुद्ध ध्वनि भेदों को जोड़ देने पर समस्त ध्वनि भेद संख्या ५३५५ होती है।

वास्तव में यह समस्त ध्वनि-भेदों का परिगणन अकाण्ड ताण्डव है। इनका सोदाहरण विवेचन ज्ञान-समृद्ध करने की अपेक्षा पाठक को उद्भ्रान्त बनाता है।

प्रश्न ४३—गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, उसके भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

प्रश्न ४४—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अनुत्तम होता है, वहाँ गुणीभूत-व्यंग्य काव्य होता है। इस कथन का विवेचन करते हुए गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—जहाँ व्यंग्य से सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का दूसरा भेद होता है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ ३/३५

इस काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही ध्वनि काव्य और गुणीभूत काव्य के अन्तर का मूल कारण है। ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि "ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य होता है। उस (व्यंग्य) के गुणीभूत हो जाने पर वाच्यार्थ के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूत व्यंग्य नाम का भेद माना जाता है।" आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक ३/४२ में लिखा कि "व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्य होता है और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है। ध्वनिकार के इसी विवेचन को आधार बनाकर आचार्य मम्मट ने ध्वनि काव्य को उत्तम तथा गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम काव्य कहा है—"अतादृशी गुणीभूत व्यंग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।" निश्चय ही चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो या वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है। फिर भी यह सुनिश्चित है कि "ध्वनि की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य काव्य निम्न कोटि के रस का आस्वाद प्रस्तुत करता है, क्योंकि इस काव्य के अन्तर्गत वे अलंकृत सूक्तियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं जिनमें कोई न कोई अलंकार रहा करता है अथवा अलंकारवादी जिसे अलंकार कह सकते हैं।"

आचार्य विश्वनाथ ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अनुत्तम होता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है"—'अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये।'

अर्थात् जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ से उत्तम न हो, वाच्य अर्थ के समान हो, अथवा उससे न्यून हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहते हैं। वस्तुतः इसमें व्यंग्य अप्रधान होता है।

आचार्य मम्मट इसे अधम काव्य कहते हैं, किन्तु पंडितराज जगन्नाथ इसे उत्तम काव्य मानते हैं। क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ रहता है।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ निम्न आठ रूपों में मिलता है—(१) इतराङ्ग, (२) काक्वाक्षिप्त, (३) वाच्य सिद्ध्यङ्ग, (४) सन्दिग्ध प्राधान्य, (५) तुल्य प्राधान्य, (६) अस्फुट, (७) अगूढ़ और (८) असुन्दर।

(१) **इतराङ्ग**—जहां एक व्यंग्यार्थ किसी अन्य व्यंग्यार्थ का अंग होता है, वहाँ इतराङ्ग गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। इसमें रस, भाव, भावाभास आदि एक दूसरे के अङ्ग वन जाते हैं। जैसे—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवी विस्रंसनः करः॥

अर्थ—भूरिश्रवा की पत्नी पति के कटे हुए हाथ को देखकर विलाप करती हुई कहती है कि यह वही मेरी रसना को खींचने वाला, पीन कुचों का मर्दन करने वाला,

नाभि, उरु तथा जघन स्थल का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खींचने वाला हाथ है ।

इस श्लोक में श्रृंगार रस करुण रस का अङ्ग है—"अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ।" इसलिए यह इतरांग गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है ।

मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत् सैन्यसागरखोद्गतकर्णतापः ।
हा ! हा ! कथं नु भवतो रिपुराजधानीप्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः ।।

अर्थ—"हे राजन् ! शत्रु नगरी की अटारियों में स्थित, मानवती प्रियतमा के मनाने को उत्कण्ठित और तुम्हारी समुद्रतुल्य सेना का घोर गर्जन सुनकर सन्तप्त कामिवर्ग शिव शिव ! बड़ी दयनीय दशा में पड़ा है ।" यहाँ प्रिया के मनाने की अभिलाषा के वर्णन से 'औत्सुक्य' और सेना का शब्द सुनकर सन्तप्त होने के कारण 'त्रास' भाव स्पष्ट है । अतः यहाँ 'औत्सुक्य' और त्रास भाव की सन्धि है । यहाँ करुण रस की अपेक्षा राजविषयक रति भाव की भावानुभूति अधिक चमत्कारजनक है । अतः यह इतरांग गुणीभूत व्यंग्य काव्य का उदाहरण है—

(२) **काक्वाक्षिप्त**—"काकु के द्वारा आक्षिप्त हुए व्यंग्य को काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं ।" यह व्यंग्य कंठ की ध्वनि विशेष के द्वारा व्यक्त किया जाता है ।

जैसे—**मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् ।**
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।।
संञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु ।
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।

अर्थ—भीमसेन वेणीसंहार नामक नाटक में सहदेव से कह रहा है कि क्या मैं युद्ध भूमि में क्रुद्ध होकर कौरवों का संहार नहीं करूँगा ? दुशासन के वक्ष को विदीर्ण कर उनका रक्तपान नहीं करूँगा ? और क्या दुर्योधन की जंघा गदा से विदीर्ण नहीं करूँगा ? भले ही आपके राजा युधिष्ठिर किसी शर्त पर सन्धि क्यों न कर लें ?

इस श्लोक में 'अवश्य मारूँगा' यह व्यंग्यार्थ है, जो ध्वनि के विकार से स्पष्ट है—"अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यंग्यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम् ।" यह व्यांग्यार्थ वाच्य (निषेध) के साथ ही प्रतीत होता है ।

(३) **वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य**—जब व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, तब उसे वाच्य सिद्ध्यङ्ग व्यंग्य कहते हैं; जैसे—

दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः ।
प्रतापस्तव राजेन्द्र ! वैरिवंश दवानलः ।।

अर्थ—"हे राजेन्द्र, पृथ्वी और आकाश के मध्य में सर्वत्र प्रकाश करता हुआ वैरिवंश का दवानल रूप यह आपका प्रताप सर्वत्र प्रदीप्त हो रहा है ।" इस उदाहरण में "प्रताप को दवानल कहा गया है । दवानलत्व का प्रताप में आरोप किया है । दवानल वन में लगी अग्नि का नाम है, अतः जब तक जंगल की तरह कोई दाह्य वस्तु प्रताप के लिए निश्चित न हो जाय तब तक प्रताप को दवानल कहना उपपन्न

नहीं होता है। इसलिए बांस और कुल दोनों के वाचक श्लिष्ट 'वंश' पद के प्रयोग से शत्रु कुल में बांस के जंगल का स्वरूप व्यंग्य होता है। वह इस वाच्य दवानलत्व की सिद्धि का अंग है"—"अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपण रूपो व्यङ्ग्यः प्रत.पस्य दवानलत्वारोप सिद्ध्यङ्गम्।"

(४) **सन्दिग्ध प्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में से कहाँ चमत्कार अधिक है, यह सन्देह निरन्तर बना रहे, वहाँ तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्त धैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥

अर्थ—चन्द्रोदय के आरम्भ काल में समुद्र की भाँति अधीर होकर शिवजी बिम्बाफल के सदृश रक्तिम अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपनी आँखों को फेरने लगे।

इसमें 'नेत्र घुमाना' वाच्यार्थ है तथा 'मुख चूमना' व्यंग्यार्थ है। 'विलोचन व्यापार चुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः।' इन दोनों में से कौन प्रधान है, यह संदेहग्रस्त है, अतः यहाँ संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य है—

(५) **तुल्य प्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों समान चमत्कारपूर्ण हों, वहाँ तुल्य प्राधान्य व्यंग्य होता है; जैसे—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥

अर्थ—इस श्लोक में परशुराम का संदेह है—वह रावण के मन्त्री माल्यवान से कहलाते हैं कि ब्राह्मणों के प्रति अपमान का त्याग करने में आपकी भलाई है, अन्यथा होने पर आपके मित्र परशुराम आपसे क्रुद्ध हो जायेंगे।

यहाँ यह व्यंग्यार्थ है कि यदि ब्राह्मण का अनादर हुआ तो 'परशुराम राक्षस वंश का सर्वनाश कर डालेगा'—"अत्र परशुरामो रक्षः कुलक्षयं करिष्यतीति व्यंग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्"। क्रुद्ध हो जायेंगे वाच्य अर्थ है। व्यंग्य अर्थ और वाच्य अर्थ समान रूप से चमत्कारक है।

(६) **अस्फुट व्यंग्य**—जहाँ व्यंग्य गूढ़ हो, पूर्णतः प्रकट न हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है। यह सहृदय हृदय को भी कठिनाई से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

"सन्धि करने में सर्वस्व छिनता है और युद्ध करने में प्राणों का भी नाश होता है। अलाउद्दीन के साथ न सन्धि हो सकती है, न विग्रह।" 'अलाउद्दीन के साथ साम और दान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं चल सकता' यह बात व्यंग्य है किन्तु यह अस्फुट है, यह बुद्धिमानों को भी कठिनाई से समझ में आती है, दूसरों का तो कहना ही क्या—"अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यंग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम्।"

(७) **अगूढ़ व्यंग्य**—अगूढ़ व्यंग्य वहाँ होता है जहाँ व्यंग्य गूढ़ न हो। जहाँ सामान्य जनों को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहज हो जाती है, वहाँ अगूढ़ व्यंग्य नामक गुणीभुत व्यंग्य काव्य होता है; जैसे—

अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना।
अहं व्रतवतो स्वैरमुक्तेन किमतः परम् ॥

"लोगों के गुरु कहने वाले इन धर्मोपदेशकजी महाराज ने मुझ व्रतवती (पतिव्रता) को धृष्टतापूर्वक····है बस, अब इसके आगे कहने से क्या लाभ है।"

इस पद्य में शाक्य मुनि का तिर्यक स्त्री के साथ बलपूर्वक उपभोग प्रतीत होता है। परन्तु वह वाच्य की तरह अत्यन्त स्फुट है। अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्य-मुनेस्त्रिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढ़म्। साधारण गँवार आदमी भी उसे झट समझ सकता है, अतः यह अगूढ़ व्यंग्य मध्यम काव्य है।

असुन्दर व्यंग्य—जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कम सुन्दर हो, या असुन्दर हो तब असुन्दर व्यंग्य होता है, इसमें वाच्यार्थ अधिक सुन्दर होता है; जैसे—

वानीरकुञ्जोड्डीन-शकुनिकोलाहलं श्रण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृतायावध्वाः सीदन्त्यंगानि ॥ (संस्कृत रूपान्तर)

अर्थ—बेत के कुञ्ज में उड़ते हुए पक्षियों का कोलाहल सुनकर गृह कार्य में संलग्न वधू के अंग शिथिल हो रहे हैं।

"दत्त संकेत कोई पुरुष लतागृहं में पहुँच गया" यहाँ यह व्यंग्य है, उसकी अपेक्षा 'सीदन्त्यंगानि' इसका वाच्य अर्थ ही अधिक चमत्कारी है, अतः यह व्यंग्य असुन्दर है—अत्र दन्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्टइति व्यंग्यात् सीदन्त्यंगानि इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम्।

इसके अतिरिक्त दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में जो उपमा (सादृश्य) आदि अलङ्कार व्यंग्य रहते हैं, उन्हें भी गुणीभूत व्यंग्य समझना। क्योंकि वहाँ काव्य का चमत्कार दीपक आदि के कारण ही होता है—किंच यो दीपकतुल्ययोगिता-दिषूपमाद्यलंकारो व्यंग्यः सगुणीभूतव्यंग्य एव। काव्यस्य दीपकादि मुखेनैव चमत्कार-विधायित्वात्। ध्वनिकार ने भी लिखा है—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्रभासते।
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गोध्वनेर्मतः ॥

आशय यह है कि दीपक आदि में यद्यपि उपमा आदि की प्रतीति होती है, परन्तु उनमें काव्य के तात्पर्य का पर्यवसान नहीं होता। वे प्रधानतया उस काव्य के व्यंग्य नहीं होते, अतः वे ध्वनि के उदाहरण न होकर गुणीभूत व्यंग्य के ही हो सकते हैं।

इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विश्वनाथ का सम्पूर्ण विवेचन ध्वनिकार और आचार्य मम्मट पर आधारित है। निश्चय ही मम्मट के विवेचन की छाया विश्वनाथ पर है।

———

पञ्चम-परिच्छेद

व्यंजना-व्यापार-निरूपण

१. व्यंजना वृत्ति की स्थापना
२. अभिधा से व्यंग्यार्थ का बोध सम्भव नहीं।
३. तात्पर्यावृत्ति और लक्षणा से व्यंग्यार्थ ज्ञान सम्भव नहीं
४. तथा अन्य विरोधि मतों का खण्डन

प्रश्न ४५—व्यंजनावृत्ति की स्थापना कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४६—'व्यंङ्ग्यार्थ के बोधन में अभिधा समर्थ नहीं है' स्पष्ट कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४७—'अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृति से व्यंङ्ग्यावबोध सम्भव नहीं है' विवेचन कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४८—'लक्षणा द्वारा रसानुभूति सम्भव नहीं है।' आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विवेचन कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४९—'अनुमिति से व्यंङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है' विश्वनाथ के अनुसार स्पष्ट विवेचन कीजिए।

उत्तर—अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या नामक वृत्तियों के द्वारा अपना कार्य कर निवृत हो जाने पर एक अन्य अभिनव अर्थ को प्रकट करने वाली वृत्ति का नाम 'व्यंजना' है। यह साहित्य शास्त्र की चौथी वृत्ति है रसावबोध के लिए इस चतुर्थ वृत्ति को मानना अत्यन्त आवश्यक है—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए साहित्याचार्य पं० शालिग्राम शास्त्री ने लिखा है—"अपना-अपना नियत अर्थ बोधन करके अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों के विरत हो जाने के कारण रसादिकों के बोधन के लिए चौथी वृत्ति (व्यंजना) मानना आवश्यक है। शब्दबुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म इन तीनों का कोई व्यापार, विरत होकर फिर उठ नहीं सकता, इसलिए 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यादि स्थल में अभिधावृत्ति से पहले पहल सब पदों के अर्थ अलग-अलग उपस्थित होते हैं। और फिर उसके विरत होने पर तात्पर्य नामक वृत्ति के द्वारा उनका कर्तत्व कर्मत्वादि रूप से अन्वय होकर एक वाक्यार्थ बनता है। यदि अभिधा के अनन्तर तात्पर्यवृत्ति अनुपपन्न हो तो लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गङ्गा पद से प्रवाह और घोष पद से आभीरों का झोपड़ियों का बोध अभिधा के द्वारा हो जाने पर तात्पर्य अनुपपन्न होता है क्योंकि प्रवाह के ऊपर कुटीरों (झोपड़ियों) का होना असम्भव है अतः गंगा-पद के अर्थ (प्रवाह का वाक्यार्थ में अधिकरणता रूप से सम्बन्ध अनुपपन्न है। इसलिए 'गंगा' पद सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी 'तट' को लक्षणा के द्वारा उपस्थित करता है तदनन्तर 'गंगातटे घोषः' ऐसा अर्थ उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिधाशक्ति सबसे पहले अपना काम करती है और तात्पर्य बाधित होने पर दूसरे नम्बर पर लक्षणा आती है। इस प्रकार तीसरे और यदि तात्पर्य अनुपपन्न न हो तो दूसरे ही नम्बर पर तात्पर्यवृत्ति वाक्यार्थ का ज्ञान कराती है। परन्तु रस भाव आदि की प्रतीति वाक्यार्थ का ज्ञान के भी पीछे होती है उस समय अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या ये तीनों वृत्तियाँ अपना काम करके विरत हो चुकती हैं और विरत हुए शब्द-व्यापार का फिर उठना असम्भव है अतः कोई चौथी वृत्ति यदि न मानी जाय तो रसादि का बोध किसके द्वारा होगा ? इसलिए तुरीय (चतुर्थ) वृत्ति मानना परम आवश्यक है।

व्यंग्यार्थ के बोधन में अभिधा समथ नहीं हैं :

अभिधा केवल संकेतित अर्थ का बोध कर शांत हो जाती है अतः वह वस्तु, अलङ्कार और रसादिरूप व्यंग्य के बोधन में समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त सरस काव्य में विभावादि का ही वर्णन होता है उन विभावादिकों का वाचक शब्दों का रस में संकेतग्रह नहीं है। स्वपद वाच्य होने पर 'शृंगार' आदि दोष पूर्ण होते हैं। यही नहीं विभावादि का कथन भी रसादि का कथन नहीं होता है। क्योंकि रसादिक और विभावादिकों को एक नहीं माना जाता। रसादि और उनके विभाबादि परस्पर भिन्न होते हैं—

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलंकाररसादि व्यंग्य बोधने क्षमत्वम्। न च संकेतितो रसादिः। नहि विभावाद्यभिधानमेव तदभिधानम्, तस्य तदैकरुप्यानंगीकारात्। यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति···।

"कहीं-कहीं तो शृंगाररसोऽयम्। यह कहने पर भी शृंगार रस की अनुभूति नहीं होती है। वस्तुतः रस स्वयं प्रकाश है और आनन्दस्वरूप है परन्तु अभिधावृत्ति से उत्पन्न ज्ञान न तो स्वयं प्रकाश है और न ही आनन्दस्वरूप—क्वचिच्च 'शृंगार रसोऽयम्, इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरुपत्वात्।

अतः अभिधाशक्ति के द्वारा रसावबोध सम्भव नहीं है इसलिए व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता है।

अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से भी व्यंगयाबोध सम्भव नहीं है—

"कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायियों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यावृत्ति भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति में समर्थ नहीं है क्योंकि तात्पर्यावृत्ति का कार्य केवल 'संसर्ग' अथवा वाक्यघटक पदों के परस्पर सम्बन्ध में समाप्त हो जाता है।" अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संतर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यंग्यवोधिनी।

अतः तात्पर्यावृत्ति भी व्यंग्य अर्थ के बोधन में समर्थ नहीं है।

अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार द्वारा भी व्यंजना का कार्य सम्भव नहीं है—अभिवादियों द्वारा प्रतिपादित—'अभिधा शक्ति का व्यापार वाण के व्यापार की तरह अति दीर्घगामी होता है' यह सिद्धान्त भी निरर्थक है क्योंकि इससे भी व्यंग्य अर्थ का बोध नहीं होता है—"यच्च केचिदाहुः—सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापार। इति" और आचार्य धनिक की यहाँ मान्यता—'व्यञ्जकत्व' तात्पर्य वृत्ति से भिन्न कुछ है। तात्पर्य का प्रसार तो जहाँ तक चाहें वहाँ तक हो सकता है—'यावत्कार्य प्रसारी' होता है। जितना कार्य हो उतना ही तात्पर्य का प्रसार हो सकता है। तात्पर्य, तराजू पर तोली हुई वस्तु विशेष नहीं है, जिसके झट से घट जाने का सन्देह हो। अतः तात्पर्यवृत्ति से ही वाक्यार्थ का ज्ञान और व्यंग्यार्थ की अनुभूति दोनों ही हो सकते हैं। अतः व्यञ्जनावृत्ति के अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है—

यच्च धनिकेनोक्तम्—

> **तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।**
> **यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥** इति

इन दोनों ही मतों का खण्डन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है कि—"तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इति बादिभिरेव पातनीयोदण्डः।"

उनके ऊपर तो अभिहितान्वयवादी मीमांसाचार्यों की यह मान्यता—क्या शब्द, क्या बुद्धि और क्या कर्म तीनों ऐसे ही हैं कि एक बार यदि कहीं अपना-अपना कार्य कर चुकें तो पुनः वहाँ वे किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते दण्ड का प्रहार करती सी प्रतीत हो रही है।

और यदि अभिधावादी-अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार से ही व्यंग्यार्थ के बोध का सामर्थ्य मानते हैं तो लक्षणा नामक शब्द शक्ति की भी आवश्यकता नहीं रह

जायगी, क्योंकि लक्षणगम्य अर्थ तो अभिधा से ही ज्ञात हो जायगा, किन्तु लक्षणा का महत्व सिद्ध है। यही नहीं—'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादि में हर्ष, शोक आदि भी वाच्य हो जायँगे, (जबकि प्रसन्नता और मुख मालिन्य अनुमान गम्य हैं) एवं च किमिति लक्षणाऽप्युपास्या? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोधसिद्धेः। किसितिच "ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी इत्यादावपि हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्।"

अन्विताभिधानवादी मीमांसक "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय के अनुसार व्यंग्य को अभिधागम्य मानते हैं—उनके मत का सार यह है कि "प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्ति किसी फल की इच्छा से होती है। काव्य के सुनने सुनाने में जिन लोगों की प्रवृत्ति है उसका फल देखा जाय तो अपूर्व आनन्दानुभव के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा, इसलिए उन काव्य वाक्यों का निरतिशय आनन्द के बोधन में तात्पर्य है", ऐसा मानना चाहिए क्योंकि उन्हीं शब्दों से वह उत्पन्न हुआ है और 'जो जिस शब्द का तात्पर्य हो वह उसी का अर्थ माना जाता है' यह नियम (यत्परः शब्द) है अतः काव्यों का कार्य अथवा विधेय निरतिशय आनन्द ही है—

यत्पुनरुक्तं 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत् ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वाद व्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्योपयिक प्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशय सुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात् इति।

इस मत का विकल्पों द्वारा खण्डन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—"यह जो कहते हो कि जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है, यहाँ द्रष्टव्य यह है कि 'तत्परत्व' क्या वस्तु है? अर्थात् इस उक्त नियम में 'तात्पर्य' शब्द से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? क्या तात्पर्य का मतलब तदर्थत्व है? अथवा तात्पर्य नामक वृत्ति से बोधित होना? यदि पहला पक्ष मानो तो कोई विवाद ही नहीं। क्योंकि व्यंग्य होने पर भी 'तदर्थत्व' का अपाय नहीं होता। तदर्थत्व का मतलब है, उस पद का अर्थ होना। इससे यह तो निकलता नहीं कि कौन सी वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिये। चाहे किसी भी वृत्ति से निकला हुआ अर्थ उस शब्द का 'तदर्थ' कहला सकता है। इसीलिए व्यञ्जना शक्ति के द्वारा प्रतीत हुआ निरतिशय आनन्द भी यदि तदर्थ कहलाये तो कोई क्षति नहीं, क्योंकि इससे अलङ्कारिकों की मानी हुई व्यञ्जना वृत्ति का खण्डन नहीं हो सकता, अतः इस पक्ष में हमें विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं—

तत्र प्रष्टव्यम्-किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्व वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा? आद्ये न विवादः, व्यंग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्।

यदि दूसरा पक्ष स्वीकार हो तो, यह बतलाओ कि यह तात्पर्य नामक वृत्ति कौन सी है? क्या अभिहितान्वयवादी मीमासंकों की मानी हुई 'संसर्ग मर्यादा' नामक सम्बन्ध बोधक वृत्ति है? या कोई दूसरी? इनमें से यदि पहला पक्ष माना

जाय तो इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि तात्पर्य वृत्ति से पदार्थों का सम्बन्ध मात्र बोधन होता है। इसके बाद वह परिक्षीण हो जाती है, अतः उससे फिर व्यंग्य अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। यदि उससे अतिरिक्त वृत्ति मानकर उसका नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखते हो, तब तो नाममात्र में विवाद रहा। पूर्वसम्मत अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तो तुम्हारे मत में भी सिद्ध हो ही गई—

द्वितीयेतु—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः ? "अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम् द्वितीये तु नाम मार्गे विवादः तन्मतेऽपि तुरीयवृत्ति सिद्धे।"

तात्पर्यवृत्ति व्यंग्यार्थ बोध करने में समर्थ नहीं है :

इस प्रसङ्ग में—यदि अभिहितान्वयवादियों की सम्मत तात्पर्यशक्ति से ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (विभावादि का संसर्ग) रसादि का ज्ञान यदि एक साथ ही प्रकाशित हो जाय तो क्या हानि है ? इस प्रकार चतुर्थ वृत्ति भी नहीं माननी होगी और कार्य भी चल जायगा। केवल तात्पर्यवृत्ति ही यह दोनों कार्य कर लेगी—

नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्य शक्त्या विभावादि संसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम् इति चेत्,

इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—"यह नहीं हो सकता है, क्योंकि विभावादि के संसर्ग को रस का कारण माना गया है और रस ज्ञान को विभावादि ज्ञान का कार्य माना गया है। कार्य और कारण कभी एक साथ नहीं हो सकते। इन दोनों का कार्य कारण भाव भरत मुनि ने कहा है—विभावानुभाव—विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से अर्थात् इन कारणों से रस की निष्पत्ति अर्थात् रस रूप कार्य की सिद्धि होती है।"

यदि विभावादि ज्ञान और रस ज्ञान का सहभाव (एक ही काल में उत्पन्न होना) माना जाय तो कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। एक साथ निकले हुए किसी पशु के वाम और दक्षिण सींग एक दूसरे के कार्य और कारण नहीं हो सकते। जहाँ पौर्वापर्य हो, वहीं कार्यकारण भाव होता है। उसके विपर्यय में नहीं—

न। तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात्। यदाह मुनिः—'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति। सहभावे च कुतः सव्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः ? पौर्वापर्यविपर्ययात्।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि तात्पर्यवृत्ति व्यंग्यार्थ के बोध कराने में समर्थ नहीं है।

लक्षणा के द्वारा व्यंग्यार्थबोध असंभव है :

क्योंकि "गंगायां घोषः" आदि उदाहरणों में लक्षणाशक्ति केवल तटादि रूप अर्थ का बोध करके विरत हो जाती है, फिर उससे शीतत्व-पावनत्व आदि व्यंग्य का बोध नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता, अतः चौथी वृत्ति की

आवश्यकता नितांत सिद्ध है और वह वृत्ति है—व्यंन्जना—'गङ्गायां घोष:' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्वपावनत्वादिव्यंग्याबोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरूपास्यैवेति निर्विवादमेतत्।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में मौलिक भेद है :

अतः दोनों वृत्तियाँ भिन्न हैं—अभिधा से व्यंजना वृत्ति का कार्य नहीं चल सकता, इसलिए व्यंजना का मानना आवश्यक है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रय विषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः ॥

अर्थात्—"बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्यप्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यंग्य वाच्यार्थ से भिन्न है।"

क्रमशः इन आधारों पर दोनों वृत्तियों के अन्तर का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं कि—

(१) **बोद्धा के आधार पर भेद**—शब्दों का वाच्य अर्थ तो वैयाकरणों को भी ज्ञात हो सकता है जो केवल पद और पदार्थ का ज्ञान रखते हैं, परन्तु व्यंग्य अर्थ केवल सहृदय गम्य है अतः बोद्धा के आधार पर दोनों में अन्तर है—

वाच्यार्थ व्यंग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैर्वै याकरणैरपि सहृदयैरेव च संवेद्यतया बोद्धृ भेदः।

(२) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप भेद है**—उदाहरण के लिए "भ्रम धार्मिक:" आदि स्थलों पर वाच्यार्थ विधिस्वरूप है परन्तु व्यंग्यार्थ निषेधरूप है। और कहीं—"निःशेषच्युतचन्दनम्" आदि प्रसंगों में वाच्यार्थ का स्वरूप निषेध रूप है अतः यहाँ व्यंग्यार्थ का स्वरूप विधिरूप है, अतः सिद्ध है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भी अन्तर है—भम धम्मिअ इत्यादौ क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, क्वचित् 'निःशेषच्युतचन्दनम्'—इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूप भेदः।

(३) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में संख्या भेद**—वाच्य अर्थ एक रूप होता है जबकि व्यंग्यरूप अर्थ अनेक विध हो जाता है। जैसे कि—गतोऽस्तमर्कः का वाच्यार्थ है कि 'सूर्य अस्त हो गया', परन्तु व्यंग्यार्थ है—नायक के समीप अभिसरण करो, 'गायें एकत्र करो', 'स्वामी के आने का समय है', अब संताप नहीं है, अब पढ़ना बन्द करो', 'सन्ध्या हवन का समय है', 'शस्त्र लेकर तैयार हो जाओ' ये सभी अर्थ वक्ता (दूती, गोपाल, सेवक, यात्री, ब्रह्मचारी और डाकू) के आधार पर होंगे किन्तु वाच्यार्थ तो एक ही है परन्तु व्यंग्यार्थ अनेक हैं—"गतोऽस्तमर्कः" इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव प्रतीयते। व्यंग्यस्तु तद्बोध्रादिभेदात् क्वचित् 'कान्तमभिसर' इति, 'गावोनिरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसर:' इति, संतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपेणानेक इति संख्याभेदः।

अतः संख्याभेद से वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य भिन्न होता है।

(४) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निमित्त भेद**—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद कारण निमित्त भी होता है—वाच्य केवल शब्द के उच्चारण से ही विदित हो जाता है किन्तु व्यंग्यार्थ ज्ञान के लिए निर्मल प्रतिभा की आवश्यकता है—

वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्य, एष तु तथाविधप्रतिभा नैर्मल्यादिनेति निमित्तभेदः। अतः निमित्त भेद के कारण भी वाच्य से व्यंग्यभिन्न है।

(५) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का प्रभाव भेद**—वाच्यार्थ से केवल वस्तु ज्ञान होता है किन्तु व्यंग्य अर्थ से चमत्कार उत्पन्न होता है, अतः इन दोनों में कार्य भेद भी है—

प्रतीतिमात्रकरणाच्चमत्कारकरणाच्च कार्यभेदः। अतः कहा जा सकता है कि इनमें कार्य का भी अन्तर है।

(६) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में प्रतीति भेद**—वाच्यार्थ की प्रतीति यदि केवल शब्द बोध रूप से होती है तो व्यंग्य की प्रतीति चमत्कारमय होती है—केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः।

(७) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बोध में काल भेद**--वाच्य पहले प्रतीत होता है, व्यंग्य उसके बाद। अतः दोनों में अन्तर है—पूर्वपश्चाद् भावेन च कालभेदः।

(८) **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आश्रय भेद**—वाच्य केवल शब्दाश्रित होता है और व्यंग्य-शब्द, शब्द के किसी एक देश में, अर्थ में, किसी वर्ण में अथवा रचना में भी हो सकता है—अतः इन दोनों में आश्रय भेद से भी अन्तर है—शब्दाश्रयत्वेन-शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः।

(९) **दोनों में विषय भेद भी है**—"भला कौन है जो अपनी प्रिया का व्रणपूर्ण अधरोष्ठ देखकर क्षुब्य न हो जाय। अरी मना करने पर और भी न मानने वाली, कितना मना किया, लेकिन तूने भ्रमर युक्त कमल को सूंघ ही लिया।"

इस श्लोकार्थ में वाच्यार्थ का विषय यदि नायिका है तो व्यंग्यार्थ का विषय नायक है। आशय यह है कि "नायिका में केवल वाच्यार्थ ही उपयुक्त है और नायक में केवल व्यंग्यार्थ। इसलिए वाच्य और व्यंग्य में विषय भेद भी होता है—इति सखी तत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः, तस्मान्नाभिधेय एव व्यंग्यः।"

उपर्युक्त कारणों से वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता स्पष्ट है।

रसानुभूति के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता अपरिहार्य है। लक्षणा द्वारा रसानुभूति सम्भव नहीं है।[1]

> प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे।
> किं च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा॥

---

१. **प्रश्न** क्या व्यंजना लक्षणा के अन्तर्गत समाविष्ट हो सकती है। इसकी विवेचना कीजिए। लक्षणा और व्यंजना के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। तथा रसानुभव के लिए व्यंजना मानना अनिवार्य है। सिद्ध कीजिये।

शब्द व्यापार से पूर्व रसादिकों की सत्ता ही नहीं होती है अतः लक्षणा और अभिधा रस का बोध नहीं करा सकती। अभिधा और लक्षणा से वह वस्तु ज्ञात होती है जो पूर्व से विद्यमान हो। गङ्गा और उसका तट पूर्व सिद्ध है अतः 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद अभिधा से प्रवाह और लक्षणा से तट का ज्ञान कराता है। असिद्ध वस्तु से लक्षणा और अभिधा की गति नहीं होती। रसन (आस्वादन) व्यापार से भिन्न रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है जिसे लक्षणा और अभिधा शक्ति बोधित कर सके।

अभिधा और लक्षणा संकेतित अर्थ की अपेक्षा करती हैं किन्तु उसका पूर्व सिद्ध रहना आवश्यक नहीं है। अभिधा के द्वारा रसादि का बोध इसी कारण नहीं होता कि रस के व्यञ्जक पदों का संकेत उस रस में नहीं होता। 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादिक शब्द शृंगार रस में संकेतित नहीं हैं। यहाँ प्रागसत्व प्रयोजक नहीं है। "गङ्गायां घोषः" में लक्षणा भी प्रागसत्=असिद्ध वस्तु में प्रवृत्त होती है।

इसके अतिरिक्त रस के प्रतीत स्थल में मुख्यार्थ का बोध भी नियत नहीं है। इस कारण भी लक्षणा के द्वारा रस की प्रतीति सम्भव नहीं है।

अनुपपत्ति होने पर ही लक्षणा की गति होती है किन्तु 'शून्यम् वासगृहम्' इस रस के उदाहरण में तो मुख्यार्थ का बाध नहीं है फिर यहाँ लक्षणा कैसे सम्भव हो सकती है।

और भी—यदि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थल में शीतत्व पावनत्वादि प्रयोजन को भी लक्ष्य मानोगे तो तट को गंगा पद का मुख्यार्थ मानना पड़ेगा और उसे अन्वय में बाधित होना पड़ेगा क्योंकि मुख्य अर्थ के बाध में ही लक्षणा होती है। किन्तु यहाँ न तो गंगा पद का मुख्य अर्थ तीर है और न तीर का अन्वय ही बाधित है, अतः लक्षणा से प्रयोजन का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रयोजनवती लक्षणा प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए होती है, जैसे गंगा पद की तट में लक्षणा करने से शीतत्वादि प्रयोजन व्यक्त होते हैं। यदि इन प्रयोजनों को भी लक्ष्य मानोगे तो इनसे फिर कुछ और प्रयोजन व्यक्त होना चाहिए। इस प्रयोजन की खोज में अनवस्था दोष सम्भव है।

जो लोग प्रयोजन सहित अर्थ का लक्षणा से बोध मानते हैं उनके मत का भी खण्डन आचार्य विश्वनाथ ने किया है। क्योंकि ज्ञान के विषय तट और उसके प्रयोजनों का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। पहले लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है और बाद में प्रयोजन का। अतः एक ही शक्ति से एक ही काल में दोनों का ज्ञान सम्भव नहीं है। मीमांसक वस्तु के प्रत्यक्ष हो जाने पर उसमें 'ज्ञातता' मानते हैं, यह ज्ञातता प्रत्यक्ष ज्ञान का फल है अतः उसके बाद ही उत्पन्न होती है। नैयायिक ज्ञान के पीछे अनुव्यवसाय मानते हैं ये ज्ञातता को नहीं मानते हैं। "इन दोनों मतों में कारणभूत प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे ही फलीभूत ज्ञान (ज्ञातता अथवा अनुव्यवसाय) माना जाता है, एक साथ नहीं, क्योंकि कार्यकारण भाव में पौर्वापर्य का नियम

आवश्यक है। इसी प्रकार कारणीभूत लक्ष्य अर्थ का ज्ञान और उसके फलस्वरूप व्यंग्य अर्थ (प्रयोजन) का ज्ञान एक काल में नहीं हो सकता।"

अनुमानवादी महिमभट्ट ने अनुमिति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानकर व्यञ्जना का खण्डन किया है। उनके मत का खण्डन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है—

नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृति र्न च रसादि धीः॥

"अनुमान अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मताज्ञान अथवा अनुमिति से, रसादिरूप व्यंग्य अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि अनुमान में सत् हेतु चाहिए और व्यंग्य अर्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये जाते हैं वे सब आभास अर्थात् हेत्वाभास हैं। हेतुओं के असत् होने के कारण ही रसादि की प्रतीति को स्मृति भी नहीं कह सकते।"

इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए बिश्वनाथ कविराज ने लिखा है कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर व्यंजना को अवश्य मानना चाहिए "क्योंकि पहले तो अनुभव सिद्ध रसादि रूप अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता, इस कारण उससे बोधन करने के लिए तुरीय वृत्ति मानना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर जहाँ उन्हीं शब्दों के उसी स्वरूप में अवस्थित होने से उन-उन अर्थों का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं होता, वहाँ चौथी वृत्ति के बिना काम नहीं चल सकता— जैसे -- 'सुरभिमांसं भवान् भुङ्क्ते', 'रुचिङ्कुरु' इत्यादि। इन स्थलों में प्रकरणादिवश अभिधा शक्ति के नियन्त्रण होने पर भी गोमांस भक्षण तथा अन्य असभ्य अर्थ की प्रतीति, बिना चौथी वृत्ति माने हो ही नहीं सकती एवं रसादि रूप व्यङ्ग अर्थ न तो अनुमान और अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से जाना जा सकता है और न अभिधा, लक्षणा तात्पर्या नाम की तीनों वृत्तियों में से किसी से बोधित हो सकता है, अतः चौथी वृत्ति माननी ही पड़ेगी। यह वृत्ति व्याप्ति आदि के अनुसंधान के बिना भी प्रवृत्त होती है।

आचार्य विश्वनाथ ने इस चौथी वृत्ति को व्यञ्जना कहा है, अन्य काव्य तत्वदर्शी रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे 'रसना' भी कहते हैं—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥

———

षष्ठः परिच्छेदः

दृश्य-श्रव्यकाव्य

प्रश्न ५१—काव्य के भेदों का उल्लेख कर अभिनय के विभिन्न प्रकारों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने पाँचवें परिच्छेद में काव्य के दो भेद ध्वनि काव्य एवं गुणीभूत व्यंग्य काव्य का विवेचन किया है तथा षष्ठ परिच्छेद में दृश्य-श्रव्य काव्य के विवेचन की भूमिका प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यत्वेन काव्यस्य भेद द्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्यत्वेन भेद-द्वयमाह—

काव्य रंगमंच पर अभिनय के कारण दृश्य और श्रव्य (अध्ययन मनन) रूप दो भेदों में विभक्त है—'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्' दृश्य काव्य का एक नाम 'रूपक' भी है क्योंकि नट में रामादि के रूप का आरोप किया जाता है—'तद्रूपारोपात्तु रूपकम्'। 'दृश्य' काव्य इसलिए 'रूपक' कहा जाता है। क्योंकि इसमें अभिनय करने वाला नट इसमें चित्रित चरित को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि "तात्पर्य यह है कि चाक्षुषप्रत्यक्ष के कारण जो 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य 'दृश्य' कहा जा सकता है वही उसके अभिनेता में, अभिनेय रामादि चरितों के रूप के 'आरोप' अथवा अनुसन्धान के कारण 'रूपक' भी कहा जाया करता है।

अभिनय :

दृश्य काव्य अभिनय के द्वारा दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, इसी अभिनय का लक्षण एवं भेद प्रस्तुत करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः

"अवस्था के अनुकरण का नाम अभिनय है।" इसी तथ्य का निरूपण दशरूपककार धनंजय ने भी किया था—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम' "अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं।" इस वाक्य की व्याख्या करते हुए डा० भोलाशंकर व्यास ने लिखा है—"जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के नायकों (तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आंगिक वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल-ढाल, वेश-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय। जैसे नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझे। नाट्य के समय दुष्यन्त और नट का भेद न रहे उनमें परस्पर अभेद-प्रतिपत्ति हो जाय।" भरत मुनि के अनुसार नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है—"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्"। भरत के "भाव" और धनंजय तथा विश्वनाथ की 'अवस्था' में मौलिक अन्तर नहीं है दोनों का आशय एक ही है—

अवस्था से यहाँ अभिप्राय मन तथा शरीर की वृत्तियों एवं दशा से है अर्थात् नाटक बच्चों से लेकर वृद्धों तक को आनन्द प्रदान करता है। नाटक में मानव जीवन की किसी भी अवस्था एवं भाव का अनुकरण हो सकता है, जहाँ मानव की वाणी मौन हो जाती है उन भावों को भी नाटक में अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किया जा

सकता है। नाटक में नृत्य, संगीत आदि से युक्त विभावादि का प्रदर्शन होता है नाट्यं गीतादि रंजितम्। नाटक में सुख-दुःख की अवस्थाओं का अभिनय भी होता है :—

अवस्था या तु लोकस्य सुख दुःख समुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते ।।

अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचक, आहार्य और सात्विक—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ।।

१. **आंगिक अभिनय**—अंगों के संचालन से होता है।

२. **वाचिक अभिनय**—वाणी के प्रयोग से होता है।

३. **आहार्य अभिनय**—वेषभूषा के प्रयोग से होता है।

४. **सात्विक अभिनय**—मनोभावों के द्वारा सम्पादित होता है।

नाट्य दर्पण के अनुसार इन चारों का विवेचन करते हुए डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है—

"अभिनय के चार भेद हैं—(१) वाचिक, अर्थात् वह जिसे रामादि के उन-उन भावविकारों से सम्बद्ध वाग् व्यवहार का नट के वाग् व्यवहार द्वारा साक्षात्कार कहा गया है। (२) आङ्गिक अर्थात् वह जिसे रामादि के विविध भावगर्भ अङ्ग और उपांग के व्यापारों का नट के अंग और उपांग के व्यापारों द्वारा साक्षाद्दर्शन माना गया है। (३) सात्विक, अर्थात् वह जो कि रामादि के विविध सत्व (मनोदशा) का नट के तदनुरूप सत्व (मनोदशा) द्वारा साक्षात्कार कहा जाया करता है और (४) आहार्य अथवा वह जिसे रामादि के जीवन से सम्बद्ध विविध वाह्य पदार्थों का नट द्वारा प्रदर्शित तदनुरूप वाह्य पदार्थों द्वारा साक्षाद्दर्शन माना गया है।

प्रश्न ५२—रूपक और उपरूपकों के नामों का उल्लेख करते हुए नाटक का सामान्य परिचय दीजिये।

उत्तर—रूपक के निम्नलिखित दस प्रधान भेद होते हैं—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।।

अर्थात् रूपक के निम्न दस भेद हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) ईहामृग, (८) अङ्क, (९) वीथी और (१०) प्रहसन।

नाट्याचार्यों ने रूपक के अन्य भेदों के अतिरिक्त अठारह उपरूपक भी माने हैं, वे निम्न हैं—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी, सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।

संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीसो भाणिकेति च ।
अष्टादश प्राहुरूप रूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ।।

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, संलापक, श्रीगदितं, शिल्पकं, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीशक, भाणिका, इन सभी का सामान्य स्वरूप वही है जो कि 'नाटक' का है ।

नाटक का स्वरूप विवेचन :

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्च संधिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुण वद्युक्तं नानाविभूतिभिः ।
सुख दुःख समुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा ।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।
चत्वारः पञ्चवा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।।

नाटक नामक रूपक में प्रथम भेद में निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिए—नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध अर्थात् रामायण-महाभारतादि इतिहास प्रसिद्ध होनी चाहिये । नाटक की कथावस्तु पञ्च संधियों से समन्वित होनी चाहिए । नाटक में विलास ऐश्वर्य आदि गुणों से सम्पन्न कथा का प्रयोग होना चाहिए । नाटक में सुख और दुःख की उत्पत्ति और अनेक रसों का उसमें प्रयोग होना चाहिए । नाटक में पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं । नाटक का नायक पुराण आदि में प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी कोई राजर्षि अथवा दिव्य, दिव्यादिव्य, पुरुष नायक होता है । (यह नायक नायकोचित अन्य समस्त गुणों से युक्त होना चाहिए) नाटक में एक अङ्गीरस होना चाहिए—यह रस शृंगार या वीर में से एक होना चाहिए । अन्य समस्त रस अङ्ग रूप में रहते हुए अङ्गीरस का सहयोग करते हैं । नाटक का अन्त विस्मयजनक होना चाहिए । नाटक के कार्य के निर्वाह के लिए चार या पाँच प्रधान पात्र होने चाहिए इसकी रचना गौ की पूँछ के अंग्र भाग के समान होनी चाहिए ।

उपर्युक्त नाटक के तत्व हैं । इन विशेषताओं में एक विशेषता है—गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए । इसकी व्याख्या करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति क्रमेणाङ्काः सूक्ष्माः कर्त्तव्याः इति

केचित् । अन्येत्वाहुः—यथा 'गोपुच्छे केचिद् बाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसंधौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे । एवमन्येष्वपि कानित्किानिचित्' इति । अर्थात् "नाटक में क्रम से उत्तरोत्तर अङ्कों को छोटा बनाना चाहिए और लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि जैसे गौ की पूँछ में कुछ बाल छोटे होते हैं, कुछ बड़े, इसी प्रकार नाटक में कुछ कार्य मुखसन्धि में ही समाप्त हो जाने चाहिए—कुछ आगे चलकर, प्रतिमुख सन्धि में, इसी प्रकार कुछ आगे पहुँच कर समाप्त होने चाहिए । वस्तुतः गोपुच्छाग्रसमाग्रम् का यह अर्थ है कि गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान नाटक का अग्रभाग होना चाहिए । अर्थात् जैसे गौ की पूंछ के अग्रभाग में दो ही एक बाल सबसे बड़ा दीखता है इसी प्रकार नाटक को आरम्भ में ही एकाध व्यापक बात से आरम्भ होना चाहिए और गोपृच्छ के बालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ के एक स्थान पर समन्वित हो जाती है इसी प्रकार नाटक की बातों में भी होना चाहिए । क्रम से परिवृद्ध सब कथाओं का एक उपसंहार में समन्वत होना चाहिए ।" 'नाटक की रचना', 'गोपूच्छाग्र' समान होनी चाहिए, इस बात को अन्य आचार्य भी मानते हैं । भरत मुनि ने भी लिखा है कि—

कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य ।
ये चोदात्ताः भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ।।

नाट्यदर्पणकार ने भी लिखा है—

गोपुच्छकेशकल्यानि नाट्यवस्तूनिकल्पयेत् ।
उदात्ता रञ्जका भावा स्थापनीया पुरः पुरः ।।

नाटक की इन विशेषताओं को दशरूपककार ने भी स्वीकार किया है ।

नाटक का नायक प्रख्यातवंशी राजर्षि होना चाहिए, यह धनंजय को भी स्वीकार है—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिदिव्यो वा यत्र नायकः ।

पञ्च संधियों का समावेश भी धनंजय स्वीकार करते हैं—

आद्यन्तमेतं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागनपि खण्डयेत् ।

नाटक में एक अंगी रस तथा अन्य अंग रस होने चाहिए—

एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यो वीरः श्रृंगार एव वा ।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।।

आशय यह है कि विश्वनाथ की नाटक विषयक समस्त मान्यतायें पूर्ववर्त्ती नाट्याचार्यों के अनुरूप ही है ।

विश्वनाथ ने नाटक के नामकरण के विषय में लिखा है कि वह ऐसा होना

चाहिए कि जिससे उसके आन्तरिक भाव का प्रकाशन हो जाय—"नाम कार्यं नाटकस्यगर्भितार्थप्रकाशकम् ।" यथा रामाभ्युदयादिः ।

(नाटक की अन्य विशेषताओं का नान्दी, आमुख, कथावस्तु, अङ्क आदि विशेषताओं का अन्यत्र विवेचन किया गया है। नाटक की लक्षणगत विशेषतायें उपर्युक्त हैं।)

प्रश्न ५३—'प्रकरण' का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने प्रकरण का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ।
शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ।
नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ।
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

अर्थात् 'प्रकरण' की कथा लौकिक और कविकल्पित होती है। इसका प्रधान रस शृंगार होता है। नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होता है। यह नायक विघ्नपूर्ण धर्म, अर्थ और काम में तत्पर धीर प्रशान्त होता है। प्रकरण में कहीं कुलकन्या नायिका होती है और कहीं वेश्या और कहीं दोनों होती हैं। इनमें से तीसरा भेद—कुलजा-वेश्या-नायिका द्वयात्मक प्रकरण है—उसमें धूर्त, द्यूतकार, विट और चेट आदि से व्याप्त होता है। शेष लक्षण नाटक के समान होते हैं।

उदाहरण के लिए—मृच्छकटिक [ब्राह्मण नायक], मालतीमाधव [अमात्य नायक], पुष्पभूषित [वैश्यनायक]। नायिका की दृष्टि से कुलस्त्री पुष्पभूषित में, वेश्या रंगवृत्त में और दोनों 'मृच्छकटिकम्' में।

दशरूपककार ने भी 'प्रकरण' के लगभग यही लक्षण लिखे हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ।
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटक वत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ।।

तथा नायिका की दृष्टि से—

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसंकुलम् ।।

प्रश्न ५४—'भाण' नामक रूपक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर—विश्वनाथ लिखित भाण का लक्षण इस प्रकार है—

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।
रंगे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा।
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीर शृंगारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः।
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुखनिर्वहणे संधी लास्यांगानि दशापि च॥

आशय यह है कि भाण धूर्तो के चरित से युक्त, अनेक अवस्थाओं से व्याप्त और एक ही अंक वाला होता है। इसमें निपुण और पंडित एकमात्र विट होता है। जो रंग में अपनी अनुभूत या औरों के अनुभव की बातों का प्रकाशन करता है। सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा ही सम्पन्न होती है। इसमें सौभाग्य और शौर्य के वर्णन से वीर और शृंगार रस का सूचन किया जाता है। यहाँ कथा कविकल्पित होती है और प्रायः भारती वृत्ति (कदाचित् कैशिकी) का प्रयोग होता है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। इसमें दसों लास्यांग, प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए—लीलामधुकर भाण देखा जा सकता है। विश्वनाथ का यह भाग लक्षण पूर्णतः दशरूपक (३/४९-५१) के आधार पर है।

प्रश्न ५५—'व्यायोग' नामक रूपक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर— **ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुक्तः।**
हीनो गर्भ विमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः।
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः।
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्य शृंगार शान्तेभ्य इतरेऽत्रांगिनो रसाः॥

व्यायोग नामक रूपक का इतिवृत्त प्रसिद्ध होता है इसमें स्त्री पात्रों की संख्या अल्प और पुरुष पात्रों की बहुत अधिक होती है। इसमें गर्भ और विमर्श नामक संधियाँ नहीं होती हैं। यह एक अङ्क वाला होता है। जिसमें जिस संगाम का वर्णन हो वह स्त्री के कारण नहीं होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता है। इसका नायक कोई प्रसिद्ध पुरुष होता है जो कि राजर्षि अथवा दिव्य धीरोद्धत प्रकृति का होना चाहिए इसमें हास्य, शृंगार और शान्त के अतिरिक्त कोई एक अंगीरस होना चाहिए। उदाहरण के लिए सौगन्धिकाहरण देखा जा सकता है। दशरूपककार के अनुसार 'व्यायोग' का लक्षण भी लगभग यही है (३/६०-६१)

प्रश्न ५६—'समवकार' नामक रूपक का स्वरूप विवेचन कीजिए।

उत्तर— **वृत्त समवकारे तुख्यातं देवसुराश्रयम्।**
सधयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे।

संधी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।
नायका द्वादशादात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ।
फल पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलोरसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दु प्रवेशकौ ।
वीथ्यंगानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायन्त्युष्णिङ् मुखान्यत्रच्छन्दासि विविधानि च ।
त्रिश्रृंगारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।
वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्य प्रथमाङ्कगम् ।
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

"समवकार में देवता और असुरों से सम्बद्ध ऐतिहासिक या पौराणिक कथा होती है। विमर्श को छोड़कर चार सन्धि एवं तीन अङ्क इसमें होते हैं। उनमें से प्रथम दो अङ्कों में दो सन्धियाँ और दूसरे तीसरे अङ्कों में एक-एक सन्धि होती है। इसमें बारह उदात्त (धीरोदात्त) नामक देवता और मनुष्य होते हैं। उन सबका फल अलग होता है। वीर रस इसमें प्रधान होता है शेष रस सहायक कैंशिकी को छोड़कर तीनों वृत्तियाँ होती हैं। इसमें बिन्दु और प्रवेशक की योजना नहीं होती है। इसमें वीथी के तेरह अङ्कों का यथासम्भव प्रयोग होना चाहिए, इसमें गायत्री, उष्णिक् के प्राधान्य के साथ अन्य वृत्तों का भी प्रयोग होता है। समवकार में त्रिश्रृंगार, त्रिकपट और 'त्रिविद्रम' आवश्यक है। इसके प्रथम अङ्क की कथा चौबीस घड़ी में, द्वितीयाङ्क की आठ घड़ी में और तृतीय अङ्क की कथा चार घड़ी में समाप्त होती है।

उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—'समुद्रमन्थन' नामक समवकार।

प्रश्न ५७—'डिम' नामक रूपक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर— मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोदभ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ।
अंगी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽगांनि रसाः पुनः ।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भक प्रवेशकौ ।
नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः शोडशान्त्य मुद्धताः ।
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च संधयाः ।
दीप्ताः स्यु षड्रसाः शान्तहास्यश्रृंगार वर्जिताः ।

'डिम' नामक रूपक की कथा इतिहास में प्रसिद्ध होती है और उसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकों की चेष्टाओं तथा उपरागों के वृत्त का पूर्ण समावेश होता है। इसका अङ्गीरस रौद्र होता है शेष रस अंगरूप में रहते हैं। इसमें देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि अत्यन्त उद्धत

सोलह नायक होते हैं। कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियों का इसमें प्रयोग होता है। इसमें चार अंक होते हैं। विष्कम्भक और प्रवेश का इसमें प्रयोग नहीं होता है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर अन्य सभी सन्धियों का प्रयोग अपेक्षित है। इसमें शान्त, हास्य और शृंगार के अतिरिक्त शेष छह रसों की दीप्ति आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक को भरतमुनि ने डिम कहा है।

प्रश्न ५८—'ईहामृग' नामक रूपक के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने 'ईहामृग' नामक रूपक का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

> **ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः।**
> **मुखप्रतिमुखे सधी तत्र निर्वहणं तथा।**
> **नरदिव्यावनियमो नायकप्रति नायकौ।**
> **ख्यातौ धीरोद्धत्तावन्यो गूढ़भावादयुक्तकृत्।**
> **दिव्यस्त्रियम निच्छन्तीमयहारादिनेच्छतः।**
> **शृंगाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत्।**
> **पताकानायका दिव्य मर्त्या वापि दशोद्धताः।**
> **युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते।**
> **महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्या स्युरत्र नो।**
> **एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः।**
> **दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे।।**

'ईहामृग' नामक रूपक में इतिवृत्त मिश्र होता है इसके लिए चार अङ्क पर्याप्त होते हैं। मुख, प्रतिमुख और निर्वहण नामक तीन सन्धियाँ होती हैं। इसमें नायक, प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत, मनुष्य और देवता होते हैं। प्रतिनायक प्रच्छन्न आचरण वाला इसमें अनुचित कर्मों में तत्पर रहने वाला होता है। इसमें अनासक्त किसी दिव्य नारी का अपहरण वर्णित करता है, इसमें दस प्रतिनायक का शृंगाराभास वर्णित रहना चाहिए। दिव्य अथवा मनुष्य दस उद्धत पुरुष पताका के नायक होते हैं। अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होकर युद्ध की पूर्ण तैयारी तो होती है किन्तु किसी बहाने वह टल जाता है। वध योग्य होने पर भी वध का वर्णन नहीं होता है। इसमें एक ही अङ्क रहता है किसी-किसी का यह भी मत है कि यहाँ एक देवता ही नायक होता है परन्तु दूसरों का मत है कि छह नायक होते हैं। दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है इसमें 'मृग' के समान अलभ्य नारी को नायक चाहता है अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं। जैसे—'कुसुम शेखर विजयादि'।

प्रश्न ५९—'अङ्क' नामक रूपक के भेद का स्वरूप विवेचन कीजिए।

उत्तर— **उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।**
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्।
प्रख्यातमिति वृत्तं च कविर्बुद्धया प्रपञ्चयेत्।

भाणवत्सन्धिवृत्यंगान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।
युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥

उत्सृष्टिकाङ्क अथवा अङ्क में एक ही अङ्क होता है और सामान्य मनुष्य इसके नायक होते हैं। इसका स्थायी रस करुण होता है। इसमें स्त्रियों का विलाप बहुत होता है। कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है, उसी को कवि अपनी बुद्धि से विस्तृत कर देता है। इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अंग भाण के समान होते हैं। इसमें जय और पराजय का भी वर्णन होता है। वाक्कलह और निर्वेद के बहुत से वचन होते हैं।

नाटकों में भी अङ्क होते हैं अतः विद्वान इसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' नाम देना अधिक उचित समझते हैं। अन्यों का मत है कि 'सृष्टि उत्क्रान्त' अर्थात् विपरीत रहती है अतः यह उत्सृष्टिकाङ्क है। इसका उदाहरण है। 'शर्मिष्ठाययाति।'

प्रश्न ६०—'वीथी' नामक रूपक के भेद का वर्णन कीजिए।

उत्तर— वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्रकल्प्यते।
आकाशभाषितैरुक्तेश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।
सूचयेद् भूरि श्रृंगारं किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः॥

'वीथी' नामक रूपक की निम्न विशेषतायें होती हैं—इसमें केवल एक अङ्क होता है और केवल एक नायक होता है जो कि आकाशभाषित के द्वारा विचित्र, उत्तर-प्रत्युत्तर-पूर्वक, अन्यान्य काल्पनिक पात्रों से, आलाप-संलाप करते हुए चित्रित होता है। इसमें श्रृंगार का प्राधान्य होता है और अन्य रसों का प्रयोग कम होता है। इसमें मुख एवं निर्वहण सन्धि का प्रयोग होता है साथ ही समग्र अर्थ प्रकृतियों का प्रयोग होता है।

श्रृंगार रस की अधिकता के कारण कैशिकी वृत्ति इसमें प्रधान होती है।

वीथी के तेरह अंग होते हैं, जिसके नाम इस प्रकार हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केलि, (७) अधिवल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, (१३) मृदव।

प्रश्न ६१—'प्रहसन' नामक रूपक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर— भाणवत्सन्धि सन्ध्यंगलास्यांगैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।
अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भक प्रवेशकौ।
अंगी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थिति र्न वा॥
तत्र
तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिस्वत्र नायकः।

एको यत्र भवेद् धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ।
यथा कन्दर्पकेलिः ।।

द्वितीय भेदः—आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः । यथा 'धूर्तचरितम् ।'

'प्रहसन' नामक रूपक की निम्न विशेषतायें हैं—इसमें संधि, सन्ध्यंग, लास्याँग और अंक की रचना भाण की तरह होती है । इसकी कथावस्तु अधम प्रकृति के नायक से सम्बद्ध कविकल्पित होती है । 'प्रहसन' में 'आरभटी' वृत्ति का प्रयोग नहीं होता है और न ही विष्कम्भक तथा प्रवेशक की ही योजना की जाती है । 'प्रहसन' का अंगीरस हास्य होता है । वीथ्यंग की योजना इसमें अनिवार्य न होकर ऐच्छिक है । वह प्रहसन 'शुद्ध' प्रहसन कहलाता है जिसमें तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी के व्यक्तियों में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को धृष्ट नायक की तरह चित्रित किया जाता है । जैसे कि—'कन्दर्प केलि' नामक प्रहसन । 'प्रहसन' का दूसरा भेद संकीर्ण प्रहसन है—जिसमें किसी अधम व्यक्ति का नायक के रूप में चित्रण होता है । जैसे कि—**'धूर्तचरित'** कोई-कोई आचार्य उस प्रहसन को संकीर्ण प्रहसन कहते हैं—जिसमें कई धृष्ट नायकों का चरित्र-चित्रण होता है और जो एक या दो अंकों का होता है । संकीर्ण प्रहसन का उदाहरण—लटकमेलक—

वृत्तं बहूनां धृष्टानां संकीर्णं केचिदूचिरे ।
तत्पुनर्भवति द्वयङ्कमथवैकांकनिर्मितम् ।
यथा—लटकमेलकादिः ।

भरतमुनि का मन्तव्य भी प्रस्तुत है :—

वेश्याचेटनपुंसकविट धूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अविकृत वेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु संकीर्णम् ।
विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकञ्चुकितापसाः ।
भुजंग चारणभट प्रभृतेर्वेषवाग्युताः ।।

इदं तु संकीर्णे नैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ् नोक्तम् अर्थात् "जहाँ वेश्या, चेट, नपुंसकादिकों के वेष तथा चेष्टादि अविकृत हो वह संकीर्णप्रहसन होता है । जहाँ नपंसक, कंचुकी और तापस लोग, कामुक, बन्दी और योद्धाओं के वेष, वाणी आदि का अनुकरण करें वह विकृत प्रहसन होता है, वह संकीर्ण के ही अन्तर्गत है अतः मुनि ने पृथक् नहीं कहा ।"

प्रश्न ६२—'महानाटक' का स्वरूप विवेचन कीजिए ।

उत्तर— एतदेव यदा सर्वैः पताका स्थानकैर्युतम् ।
अंगैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।।

महानाटक में नाटक के समस्त लक्षणों के साथ पताका स्थानक (चतुर्विध) का प्रयोग होता है । इसमें दस अङ्क होते हैं । ऐसी वृहदाकार रचना को महानाटक कहा जाता है । उदाहरण के लिए राजशेखर की 'बालरामायण' नामक रचना को देखा जा सकता है ।

प्रश्न ६३—नाटिका नामक उपरूपक के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

उत्तर— नाटिकावलृप्तवृत्तास्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्यत्र स्यान्नायको नृपः।
स्यादन्तः पुरसंबद्धा संगीत व्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा।
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रभल्भा नृपवंशजा।
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः संधय पुनः॥

अर्थात् नाटिका की कथा कविकलिपत होती है इसमें अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं, इसमें चार अङ्क होते हैं। इसका नायक धीर ललित राजा होता है। इसमें अन्तःपुर से सम्बन्ध रखने वाली या गाने वाली राजवंश की कोई नवानुरागवती कन्या नायिका होती है। नायक का प्रेम महारानी के भय से शंकापूर्ण रहता है। महारानी राजवंशोत्पन्न प्रगल्भा नायिका होती है। यह पद-पद पर मान करती है। नायक और नायिका का समागम महारानी के ही वश में होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है अंशमात्र विमर्श सन्धि के साथ शेष चारों सन्धियों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए रत्नावली और विद्धशाल भञ्जिका देखा जा सकता है।

प्रश्न ६४—नान्दी का स्वरूप स्पस्ट कीजिए।

उत्तर—पूर्वरङ्ग के अनेक अंगों में से एक का नाम नान्दी है। रंगस्थल के विघ्नों की शान्ति के लिए इसका विधान है। इसे नाटक का मंगलाचरण भी कह सकते हैं। नान्दी की व्युत्पत्ति एक विद्वान के अनुसार निम्न है—'नन्दन्ति देवता अस्याम्' अथवा नन्दयति आनन्दयति लोकान् इति नान्दी। अर्थात् यह नाटक के आरम्भ का एक अंश है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—

तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दीं विघ्नोपशान्तये।
आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।
मंगल्यशङ्ख चद्राब्जकोक कैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥

अर्थात् "रंगस्थल के विघ्नों की शान्ति के लिए 'नान्दी' अवश्य करनी चाहिए।" "देवता, ब्राह्मण तथा राजादिकों की आशीर्वादयुक्त स्तुति की जाती है, अतः यह नान्दी है। इसमें मंगल्य वस्तु, शंख, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुदादिकों का वर्णन होना चाहिए एवं इसमें बारह या आठ पद होने चाहिए"।

उदाहरण के लिए—'अनर्घराघव' में अष्टपदा नान्दी—'निष्प्रत्यूहम्'० तथा द्वादशपदानान्दी का उदाहरण—शिरसिधृतसुराग में स्मरारावरुण मुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्र-

पुत्री। अथ चरणयुमानते स्वकान्ते स्मिर सरसा भवतोऽस्तुभूतिहेतुः "वह देवी पार्वती आप सामाजिकों का मंगल करें जिनका मुखचन्द्र, भगवान शंकर के मस्तक पर विराजमान भगवती गंगा के दर्शन मात्र से लाल हो जाया करता है और चरणों पर (मानापनयन) के लिए झुके भगवान शंकर के दर्शन से मन्द मुसकान से स्निग्ध दिखायी दिया करता है"।

प्रश्न ६५—'स्थापना' किसे कहते हैं, लक्षण उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सूत्रधार पूर्वरंग का विधान कर जब चला जाता है, उस समय 'स्थापक' (सूत्रधार के समान नट) काव्य की उपक्रमणिका प्रस्तुत करता है, यह उपक्रमणिका ही 'स्थापना' है, विश्वनाथ के अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार है—

पूर्वरंग विधायैव सूत्रधारो निवर्तते।
प्रविश्य स्थापकस्त द्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः।
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा॥

"सूत्रधार पूर्वरंग का विधान समाप्त करके चला जाता है (नाट्योपकरणा-दीनि सूत्रमित्यमिधीयते। सूत्रं धारयतीत्पर्थे सूत्रधारोनिगद्यते) उसके बाद उसी की वेशभूषा वाला 'स्थापक' आता है, वह काव्य की भूमिका प्रस्तुत करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य हो तो वह देव की भूमिका में, यदि मर्त्यलोक की वस्तु अभिनेय हो तो मनुष्यरूप में और यदि दिव्यादिव्य भूमिका हो तो देवता या मनुष्य की भूमिका में 'स्थापक' प्रवेश करता है और वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है।"

जैसे उदात्तराघव में—"रामो मूर्ध्नि निधाय" के द्वारा इतिहास की सूचना दी जाती है। रत्नावली में—'द्वीपादन्यस्मादपि०' के द्वारा बीज की सूचना दी जाती है। इसी प्रकार शाकुन्तलम् में पात्र की सूचना निम्न श्लोक द्वारा दी गई है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभंहृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा॥

"अरी! तेरा यह मनोहारी संगीतमाधुर्य मुझे अपनी ओर वैसे ही खींच रहा है जैसे वह अतिशय वेग वाला सारंग (हिरण श्लेष से सारंग राग) राजा दुष्यन्त को अपनी ओर खींचता चला जा रहा है"। इस श्लोक द्वारा पात्र राजा दुष्यन्त के रंगमंच पर प्रवेश की सूचना दी जा रही है।

प्रश्न ६६—भारती आदि वृत्तियों के लक्षण लिखकर उनके अंगों के नाम बतलाइये।

उत्तर—भारती वृत्ति में संस्कृत बहुल वाग्व्यापार होता है। नर इसका आश्रय लेकर प्रयोग करते हैं नारी नहीं—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।

भरत मुनि ने भी लिखा है—

या वाक् प्रधाना पुरुषोपयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता साभारती नामभवेत्तु वृत्तिः ।।

इसके चार अंग होते हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख—

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।
अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।।

प्ररोचना—प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं को प्रकृत वस्तु की ओर आकर्षित करना प्ररोचना है, जैसे रत्नावली में—

श्री हर्षो निपुणः कविः, परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च वत्सराजचरितं, नाट्ये च दक्षावयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छित फलप्राप्तेः पदं, किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितःसर्वोगुणानां गणः ।

कैशिकीवृत्ति :

या श्लक्षणनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्री संकुलापुष्कल नृत्यगीता ।
कामोपभोगप्रवभोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ।।

अर्थात् "जो मनोरञ्जक नेपथ्य से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीजनों से व्याप्त तथा नृत्य-गीत से भरपूर हो। जिसका उपचार कामसुख का उत्पादक हो, वह रमणीय विलास से युक्त वृत्ति कैशिकी होती है।"

कैशिकी वृत्ति के चार अंग होते हैं—

नर्म, नर्मस्फूर्ज, नमस्फोट और नर्मगर्भ ।

नर्म—चतुरतापूर्ण क्रीड़ा का नाम नर्म है। इसमें प्रेमीजनों का चित्त आकर्षित होता है। यह तीन प्रकार का होता है—प्रथम केवल हास्य के द्वारा विहित, दूसरा शृंगार-हास्य के द्वारा और तीसरा भययुक्त हास्य के द्वारा। **नर्मस्फूर्जः** आरम्भ में सुखकर और अन्त में भयदायक नवीन समागम को नर्मस्फूर्ज कहते हैं। **नर्मस्फोट**—थोड़े-थोड़े प्रकाशित भावों से जिसमें कुछ-कुछ शृंगार रस सूचित हो।

नर्मगर्भ—प्रच्छन्न रूप से कृत नायक के व्यवहार को नर्मगर्भ कहते हैं।

सात्वतीवृत्ति—सत्त्व, शूरता, दान, दया, ऋजुता और हर्षयुक्त कुछ शृंगार वाली, शोक रहित अद्भुत रसयुक्त वृत्ति को सात्त्वती कहते हैं—

सात्त्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
सहर्षा क्षुद्र शृंगारा विशोका साद्भुता तथा ।।

इसके चार अंग होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

उत्थापक, सांघात्य, संलाप और परिवर्तक ।

उत्थापक—शत्रु को उत्तेजना देने वाली वाणी को उत्थापक कहते हैं।

सांघात्य : मन्त्र शक्ति, अर्थशक्ति और दैव शक्ति आदि के समुदाय के फोड़ने को सांघात्य कहते हैं। संलाप : अनेक भावों की आश्रयभूत गभीरोक्ति का नाम संलाप है। परिवर्तक : आरब्ध कार्य से अन्य कार्य के करने को परिवर्तक कहते हैं।

आरभटी वृत्ति :

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोदभ्रान्तादिचेष्टितैः।
संयुक्तावधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता॥

अर्थात् "माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त चेष्टायें, वध और बन्धनादिकों से संयुक्त उद्धत वृत्ति को आरभटी वृत्ति कहते हैं।"

आरभटी वृत्ति के भी चार भेद होते हैं।

वस्तूत्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन।

वस्तूत्थापन—माया आदि से उत्पन्न वस्तू को वस्तूत्थापन कहते हैं। क्रोध से भरे त्वरायुक्त पुरुषों के संघर्ष का नाम संफेट है। शिल्प अथवा कारणान्तर से संक्षिप्त वस्तु रचना को 'संक्षिप्ति' कहते हैं। प्रवेश, त्रास, निष्क्रमण, हर्ष और विद्रव की उत्पत्ति को अवपातन कहते हैं।

इस प्रकार नाटकों की चार वृत्तियाँ होता हैं। वृत्तियों से अभिप्राय है—नायक-नायिका आदि के नाना व्यापार—

चतस्रो वृत्तयो ह्येता सर्वनाट्यस्य मातृकाः
स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु।

इन वृत्तियों का विभिन्न रसों से सम्बन्ध होता है, इसका विवेचन करते हुए दर्पणकार ने लिखा है—

शृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।

अर्थात् "शृंगार रस की रसाभिव्यक्ति के लिए कैशिकी वृत्तिः वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए सात्वती वृत्ति, रौद्र और वीभत्स रस की अभिव्यक्ति के लिए आरभटी वृत्ति और भारती वृत्ति का सभी रसों से सम्बन्ध होता है।

वृत्तियों का भरत के नाट्यशास्त्र में भी विस्तृत विवेचन मिलता है, वहाँ वृत्तियों के अभिर्भाव का उल्लेख इस प्रकार है—

ऋग्वेदाद् भारती वृत्ति यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि।

नाट्यदर्पणकार ने भी वृत्तियों को नाट्य की जननी कहा है—

भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः
रसभावाभिनयंगाश्चतस्रो नाट्यमातरः।

प्रश्न ६७—नाट्योक्ति का निरूपण कीजिये।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने नाट्योक्ति के अन्तर्गत स्वगत कथन, प्रकाश, जनान्तिक और आकाश भाषित आदि का विवेचन किया है, उनके लक्षणादि निर्देशक श्लोक निम्न हैं—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्।
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद् भवेदपवारितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यमन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम्।
किं ब्रवीषीति यन्नट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम्।

अर्थात् "जो बात सुनाने योग्य नहीं होती, उसे 'स्वगत' कहते हैं। नाटक में जिस उक्ति के साथ 'स्वगतम्' लिखा रहता है उसे पात्र अपने मन में ही कहता है, दूसरे पात्र से नहीं, किन्तु इस प्रकार कहता है कि सामाजिक सुनले।

जो कथा सबको सुनाने योग्य हो उसे 'प्रकाश' कहते हैं। जो बात किसी एक से छिपाकर दूसरे पात्र से, फिरकर, कहनी हो उसे 'अपवारित' कहते हैं। 'त्रिपताक' कर से दूसरों को बचा के कथा के बीच में ही जो दो आदमी आपस में कुछ बात-चीत करने लगते हैं उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। पताक और त्रिपताक का लक्षण—

प्रसारिताः समाः सर्वा यस्यांगुल्यो भवन्ति हि।
कुञ्चितश्च तथांगुष्ठः स पताक इति स्मृतः॥

सब उँगलियाँ मिली हुई फैली हों और अँगूठा कुंचित हो ऐसे हाथ को 'पताक' और 'पताके तु यदा वक्रानामिकात्वङ्गुलिर्भवेत्। त्रिपताकः स विज्ञेयः॥'

पताक में यदि अनामिका टेढ़ी हो तो 'त्रिपताक' कहलाता है। किं ब्रवीषि—दूसरे किसी पात्र के बिना ही, बिना कही बात को ही सुना सा करके 'क्या कहते हो' यह वाक्य बोलकर जो पात्र अपनी बात कहता है, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।

प्रश्न ६८—प्रस्तावना अथवा आमुख का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

उत्तर—आमुख नाटक का वह अंश है जिसमें नटी-विदूषक अथवा पारि-पार्श्विक नाम का नट सूत्रधार से बातें करता है। इसी प्रस्तावना में नाटक का नाम, उसका रचयिता और उसकी कथावस्तु की सूचना दी जाती है। इसे आमुख भी कहते हैं। स्थापना भी कहा जाता है।

विश्वनाथ कृत प्रस्तावना का शास्त्रीय लक्षण यह है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥

प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक और अवलगिता—

उद्घात (त्य) कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावना भिदः ॥

उद्घातक प्रस्तावना में अप्रतीतार्थक पदों के अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जहाँ और पद साथ में जोड़ दिये जायँ वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। साहित्य दर्पणकार ने मुद्राराक्षस में इसकी सत्ता मानी है।

कथोद्धात नामक प्रस्तावना—जहाँ सूत्रधार का वाक्य या वाक्यार्थ लेकर कोई पात्र प्रवेश करे वहाँ कथोद्धात नामक प्रस्तावना होती है। इस प्रस्तावना के उदाहरण के रूप में रत्नावली नाटिका में 'द्वीपात्' पद्य को पढ़ने पर नेपथ्य से 'एवम्' कहते हुए यौगन्धरायण का प्रवेश होता है। वाक्यार्थ को लेकर—वेणीसंहार में 'आःदुरात्मन्' के साथ भीम का प्रवेश होता है।

यदि एक ही प्रयोग प्रारम्भ हो जाय और उसी के पात्र का प्रवेश हो उसे प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं। उत्तररामचरित और कुन्दमाला में इसका प्रयोग हुआ है।

जहाँ सूत्रधार उपस्थित समय (ऋतु) का वर्णन करे और उसी के आश्रय से पात्र का प्रवेश हो, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं।

जहाँ एक प्रयोग में सादृश्यादि के द्वारा समावेश करके किसी पात्र का अन्य कार्य सिद्ध किया जाय उसका नाम 'अवलगित' है, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में 'तवास्मि गीतरागेण' के बाद ही राजा का प्रवेश होता है।

प्रश्न ६६—'अंकः' का लक्षण लिखिये।

उत्तर—नाटक के प्रमुख विभाग को अंक कहते हैं। संस्कृत नाटकों में इनकी संख्या पाँच से आठ-दस तक मानी गयी है। अंकों में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। दशरूपककार ने अंक का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

अंक इतिरूढ़ि शब्दो, भावैश्चरसैः प्ररोहत्यर्थान्,
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदंकः ।

राज शेखर के अनुसार अंक की कथावस्तु एक दिन ही होनी चाहिए—

एक दिवसप्रवृतः कार्योंके सप्रयोगमधिकृत्य ।

साहित्य दर्पणकार ने अंक के वर्णित विषय में लिखा है कि "अंक में नायक का चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए। वह रसभाव-युक्त हो और शब्द गूढ़ न हों। गद्य सरल हो। अवांतर कार्य पूरा हो जाये पर प्रधान कथा नहीं। पद्य कम हो। नायक निकट ही रहे और तीन-चार पात्र हों। अनेक दिनों की कथा एक अंक में न हो।

संध्या आदि के समय का उल्लंघन न हो। दूर से बुलाना, वध, युद्ध, राज्य विप्लव, विवाह भोजन, शाप, मल-त्याग, मृत्यु, रमण, दंतक्षत, नखक्षत, शयन, चंदन-लेप आदि क्रियाएँ अंक में मंच पर न दिखाई जायँ।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः।
विच्छिन्नवान्तरैकार्थः किंचित्सलग्नविन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्यैबीज सहृतिमान्न च।
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान्।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः॥

नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा।
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्यू रतं तथा।
दन्तच्छद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकर च यत्।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्।
स्नानानुलेपने चैभिर्वजितो नास्तिविस्तरः।
देवी परिजनादीनाममात्य वणिजामपि।
प्रत्यक्षचित्रचरित्रैर्युक्तो भावरसोद्भवैः।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इतिकीर्तितः॥

(सा० द० ६/१२/१९)

प्रश्न ७०—गर्भांक का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

उत्तर— अंकोदर प्रविष्टो यो रङ्ग द्वारा मुखादिमान्।
अंकोऽपरः स गर्भांकः सबीजः फलवानपि॥

गर्भांक से आशय है "अंक के मध्य में प्रविष्ट दूसरे अंक को गर्भांक कहते हैं।" जिसमें रंगद्वार, और आमुख आदि अंग हों, और जिसमें बीज तथा फल का स्पष्ट आभास होता हो। उदाहरण के लिए बालरामायण में सीता स्वयम्बर नामक गर्भांक। अथवा उत्तर रामचरितम् के सातवें अंक में गर्भांक को देखा जा सकता है।

प्रश्न ७१—साहित्य दर्पणकार के अनुसार 'वस्तु' का विवेचन कीजिए।

उत्तर—नाटक में वर्णित कथानक "वस्तु" कहलाता है। इस कथावस्तु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। नाटक में लोक की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है और ये अवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इन अवस्थाओं के विविध रूप हमें दृष्टिगत होते हैं परन्तु सबसे अधिक हमारी दृष्टि सुखात्मक एवं दुखात्मक रूपों पर पड़ती है। नाटक में इन दोनों अवस्थाओं का समान महत्व है और इनका चित्रण किया जाता है।

रूपकों का प्रथम भेदक धर्म वस्तु ही है। इस वस्तु के ही कथा इतिवृत्त, कथावस्तु, Plot आदि नामान्तर हैं। साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में वस्तु दो प्रकार की निर्दिष्ट की गई है—

वस्तु च द्विधा :

एक प्रासंगिक द्वितीय आधिकारिक—

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥

नाटकादि में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कहते हैं जैसे रामायण काव्य में राम सीता वृतान्त। तथा आधिकारिक कथा के अङ्ग रूप में प्राप्त उपकथाएँ प्रासङ्गिक कही जाती हैं। रामायण कथा में विभीषण वृतान्त, सुग्रीव वृत्तान्तादि।

विश्वनाथ आधिकारिक कथा का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

अधिकारः फलेस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तस्येतिवृतं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥

फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है। तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फलप्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है।

विश्वनाथ ने प्रासंगिक कथा का निर्देश इस प्रकार किया है—

अस्योपकरणार्थं तु प्रासंगिमितीष्यते।

जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं का फल भी सिद्ध हो जाय वह प्रासंगिक वृत्त है।

आधिकारिक वस्तु महासरिता के समान है जो निश्चित रूप से फलप्राप्ति की ओर बढ़ती है तथा प्रासंगिक कथायें क्षुद्र नद-नालों की भाँति उस महासरिता को आगे बढ़ाने में अपना योग देती हैं।

प्रश्न ७२—साहित्य दर्पणकार द्वारा निरूपित अर्थोपक्षेपक के स्वरूप एवं प्रकारों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—अर्थोपक्षेपक का शाब्दिक अर्थ है—अर्थ का उपक्षेपण (सूचना देने वाला) "नाटक में रसहीन वस्तुओं की केवल सूचना दी जाती है। सूच्य वस्तुओं की सूचना देना ही अर्थोपक्षेपक है।" आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—"जो रस सम्बन्धी या नायक सम्बन्धी वस्तु अनुचित हो अथवा विरुद्ध हो, उसे नाटकादिकों में छोड़ देना चाहिए, या बदल देना चाहिए। अनुचित इतिहास जैसे रामचन्द्र का कपट से बाली को मारना। उदात्तराघव में इसे छोड़ ही दिया और महावीर चरित में बदल दिया (राम को मारने आया बाली मारा गया)—

यत्स्यादनुचितं वस्तुनायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

अनुचितमित्तिवृत्तं यथा-रामस्यच्छद्मना बालिवधः। तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव। वीरचरिते तुवाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः।

नाटक में अर्थ, कार्य संसूच्य या व्ययीत घटना की सूचना देने के पाँच साधन हैं, जिन्हें विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख कहते हैं—

अर्थोपक्षेपक पंच विष्कम्भक प्रवेशकौ।
चूलिकांकावतारोऽथ स्यादंकमुखमित्यपि ॥

विष्कम्भक—विगत घटनाओं के सूचनार्थ प्रयोग में आने वाले अर्थोपक्षेपक का नाम विष्कम्भक होता है। यह अङ्क के आरम्भ में जोड़ा जाता है। यह नाटक के प्रथम अङ्क में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण। "जिस विष्कम्भक में एक अथवा एक से अधिक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं और संस्कृत में संभाषण करते हैं, उसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं। जिसमें कुछ मध्यम और कुछ अधम श्रेणी के पात्र होते हैं और संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में संभाषण करते हैं उसे संकीर्ण विष्कम्भक कहते हैं।" साहित्य दर्पणकार ने लिखा है कि—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो आदावकंस्यदर्शितः ॥
मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥

अर्थात् "रूपक में विष्कम्भक भूत और भविष्य की घटनाओं का सूचक होता है। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा संक्षेप में कथाओं की सूचना दी जाती है।" शुद्ध का उदाहरण मालतीमाधव के पंचम अंक में कपाल कुण्डला के द्वारा। संकीर्ण जैसे रामाभिनन्द में क्षपणक और कापालिक के द्वारा।

विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना नितान्त आवश्यक है, यदि किसी भी शुद्ध या संकीर्ण विष्कम्भक में केवल अधम कोटि के पात्र होंगे तो वह 'प्रवेशक' नामक अर्थोपक्षेपक हो जायेगा।

प्रवेशक—प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति भूत और भविष्य की कथाओं का सूचक होता है। इनमें औदात्यपूर्ण उक्ति का प्रयोग नहीं होता है। इसकी भाषा प्राकृत तथा पात्र नीच वर्ग के होते हैं। प्रवेशक का प्रयोग प्रायः दो अंकों के मध्य में होता है। साहित्य दर्पणकार के अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार है—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कस्यान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥

उदाहरण के लिए वेणीसंसार के चतुर्थ अंक में राक्षसों की जोड़ी।

विष्कम्भक एवं प्रवेशक क अन्तर इस प्रकार है—"यद्यपि दोनों ही भूत और भविष्य के कथांशों के सूचक हैं। तथापि रूपक में इनके स्थान, इनकी भाषा, पात्रों के प्रयोग की दृष्टि से इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। प्रवेशक का प्रयोग दो

अंकों के बीच में हो सकता है। रूपक के प्रथम अंक के आदि में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रथम अंक में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। पर विष्कम्भक का प्रयोग रूपक के प्रथम अंक के प्रारम्भ में भी हो सकता है और दो अंकों के बीच में भी। जैसे शाकुन्तल के चौथे अंक के आदि में हुआ है। भाषा की दृष्टि से प्रवेशक में संस्कृत का प्रयोग वर्जित है। इनमें निम्न श्रेणी की प्राकृत, मागधी, पैशाची आदि के प्रयोग का विधान है, जबकि विष्कम्भक में संस्कृत और शौरसेनी का। विष्कम्भक के पात्र मध्यम श्रेणी के होने आवश्यक हैं। प्रवेशक के समस्त पात्र निम्न श्रेणी के होते है।"

चूलिका :

यह अर्थोपक्षेपक का तीसरा भेद है—

जब नेपथ्य में स्थित पात्र के द्वारा कोई सूचना दी जाती है तो उसे चूलिका कहते हैं साहित्य दर्पणकार के अनुसार—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका।

उदाहरणार्थः महावीर चरित के चतुर्थ अंक में नेपथ्य के द्वारा यह सूचना दी जाती है कि राम ने परशुराम को जीत लिया है—'रामेण परशुरामो जितः'।

अङ्कावतार :

यह अर्थोपक्षेपक का चौथा भेद है। विश्वनाथ के अनुसार 'पूर्व अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अलग अंक अवतीर्ण होता है उसे अङ्कावतार कहते हैं—

अंकान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः॥

उदाहरण के लिए—

शाकुन्तलम् के पंचम अंक के अन्त में उसके पात्रों द्वारा सूचित किया गया षष्ठ अंक अवतीर्ण हुआ है।

अंकातार—किन्तु धनिक इसे उससे भिन्न मानते हैं—विश्वनाथ जैसे शाकुन्तल में पञ्चम अंक के अन्त में उसके पात्रों द्वारा सूचित किया हुआ षष्ठ अंक पूर्व से अविभक्त है अवतीर्ण हुआ है।

अंकमुख—यह अर्थोपक्षेपक का पाँचवाँ भेद है। जहाँ एक ही अंक में नाटक के सारे अंकों की सूचना दे दी जाये, ऐसे बीजभूत अर्थसूचक को अंकमुख कहते हैं—

यत्र स्यादंक एकस्मिन्नंकानां सूचनाखिला।
तदंकमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्॥

उदाहरण के लिए मालती माधव के प्रथम अंक को देखना चाहिए; जहाँ अंक के आरम्भ में ही कामन्दकी और अवलोकिता ने अगली सब बातों की सूचना दे दी है।

प्रश्न ७३—पताकास्थानक के विषय में विश्वनाथ के विचारों को लिखिये ।

उत्तर—प्रासंगिक कथाओं के विवेचन के अवसर पर धनंजय ने पताका एवं पताकास्थानक का स्पष्ट अन्तर सिद्ध करने के लिए पताकास्थानक का विवेचन किया है । वे लिखते हैं कि 'जहाँ किसी प्रसंग द्वारा आगे की कथा सूचित की जाती है वहाँ पताकास्थानक होता है । कहीं तो यह अन्योक्ति पद्धति पर होता है, कहीं समासोक्ति-पद्धति पर—

प्रस्तुतागन्तुमावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचनम् ।
पताकास्थानकम् तुल्यसंविधानविशेषणम् ।।

धनिक ने अपनी टीका में और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो वस्तु अंश भावी कथांश को ठीक प्रकार से सूचित करे, जिस प्रकार पताका राजा के आगमन की सूचना देती है, उसी को पताका स्थानक कहते हैं । यह सूचना दो प्रकार से दी जाती है—एक तो घटनाओं की समानता के आधार पर और दूसरी प्रस्तुत और भावी घटनाओं के वर्णन में प्रयुक्त समान विशेषणों के आधार पर । प्रथम में अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा का आधार लिया जाता है और दूसरी में समासोक्ति का । उदाहरण के लिए अन्योक्ति के आधार पर 'रत्नावली' में सूर्य-पद्मिनी के अन्योक्तिमय कथन से उदयन-रत्नावली वृत्तान्त को व्यंजित किया गया है । दूसरे प्रकार के समान विशेषण पर आधृत पताका स्थानक का उदाहरण भी रत्नावली में है जहाँ लता का (उद्दामौत्कलिका०) वर्णन करते हुए समान विशेषणों के आधार पर नायिका की सूचना दी गई है ।

विश्वनाथ ने धनंजय से भिन्न चार भेद इसके माने हैं । विश्वनाथ का विवेचन भरत के अनुरूप ही है । भरत के अनुसार चार पताकास्थानक निम्न हैं—(१) जहाँ अकस्मात् प्रेमानुकूल उपचार के कारण उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो, (२) जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा नायिकादि के मंगल की सूचना प्राप्त हो । (३) जहाँ वक्ता का अर्थ तो अव्यक्त हो, पर श्लेषत्वेन एक निश्चय की सूचना देता हो । (४) जहाँ दो अर्थों वाले श्लिष्ट वचन-विन्यास की योजना हो और प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति होती हो ।

(ना० शा० २१/३१-३५)

विश्वनाथ ने उपर्युक्त चार भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ।
यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिगोंऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ।।

तद्भेदानाह :

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ।

वचः सातिशयश्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम्।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्।
अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते।
द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताकास्थानकं परम्। (६/४४-४६)

विश्वनाथ के अनुसार इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

"पहले में उपचार द्वारा झट अधिक गुणयुक्त अर्थ सम्पत्ति पैदा हो जाती है, जैसे रत्नावली में सागरिका को वासवदत्ता समझ उपचार करके फाँसी से बचाते समय राजा को पता लगता है कि यह सागरिका है और पहले से अधिक अभीष्ट हो जाता है। दूसरे में अनेक बन्धों में आश्रित अत्यन्त श्लिष्ट बात कही जाती है। जैसे—वेणीसंहार में कौरवों के स्वस्थ (सर्गस्थ या हृष्ट-पुष्ट) होने की बात कही गई है (रक्त प्रसाधितभुवः०)। तीसरे में दूसरे अर्थ को बताने वाली अव्यक्त अर्थ वाली विशेष निश्चय-युक्त बात भी होती है और उसका वैसा उत्तर भी; जैसे—वेणीसंहार में कंचुकी और राजा दुर्योधन की 'भग्नं भग्नं' वाली बातचीत, जिसमें कंचुकी तो भीषण पवन द्वारा पताका गिरने की बात कहता है पर दुर्योधन और दर्शकों के निकट भीम द्वारा दुर्योधन की जांघ टूटने का अर्थ निकलता है। चौथे में भी सुन्दर, श्लिष्ट और द्वयर्थक वचनविन्यास द्वारा प्रधान अर्थ की सूचना होती है जैसे—रत्नावली में राजा के सागरिका पर अनुराग और वासवदत्ता का मुख क्रोध में लाल होने की सूचना लता को देखते हुए वासवदत्ता को चिढ़ाने वाली राजा की कल्पना में है।"

प्रश्न ७४—विश्वनाथ के अनुसार अर्थ प्रकृतियों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—अर्थ प्रकृतियाँ पांच होती हैं—जिन्हें बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य कहते हैं। ये अर्थ प्रकृतियाँ नाटक के प्रयोजन और फल की गतिविधि की सूचना देती है—"अर्थप्रकृतयाः प्रयोजनसिद्धिहेतवः।" नाट्यशास्त्र के अनुसार उनके नाम निम्न हैं—

अर्थ प्रकृतयः पञ्च ....।
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञाता योज्या यथाविधिः॥

इनको साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी स्वीकार करते हैं—

बीज :

बीच थोड़े ही शब्दों में कहे गये फल को विकास की ओर ले जाने वाले साधन का नाम है—"स्तोकोदिष्ट कार्यसाधकः।" यह साधन आगे चलकर काफी विस्तार ग्रहण करता है—'पुरस्तात् अनेक प्रकारं विस्तारी भवति।' यद्यपि प्रारम्भ में इसका उल्लेख थोड़े ही शब्दों में किया जाता है—

साहित्यदर्पणकार के अनुसार इसका लक्षण निम्न है—

अल्पमात्रं समुदिष्ट बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमौहेतुर्बीजं तदभिधीयते ॥

अर्थात् जिस "नाटक-प्रयोजन को पहले अत्यल्प कहा जाय, पर पीछे जिसका विपुल विस्तार हो जाय वह बीज है। जैसे—रत्नावली में अनुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार, अथवा वेणीसंहार में द्रौपदी के केश संयमन का हेतुभूत, भीमसेन के क्रोध से युक्त युधिष्ठिर का उत्साह।

बिन्दु :

जब मुख्य कथा के प्रभाव के कारण अवान्तर कथा क्षीण होने लगती है, उस समय उस क्षीण कथा को पुनर्जीवित करने वाले फल का हेतु बिन्दु कहलाता है—"अवन्तरार्थ विच्छेदे विन्दुर्छेद कारणम्" साहित्यदर्पणकार ने भी बिन्दु का यही लक्षण माना है—'प्रासंगिक प्रयोजन के समाप्त या विछिन्न हो जाने पर भी प्रधान प्रयोजन के अविच्छेद का निमित्त बिन्दु है।" जैसे—रत्नावली में अनङ्गपूजा की समाप्ति में कथा पूरी हो चुकी थी किन्तु 'उदयनस्ये०' त्यादि पद्य को सुनकर 'ऐं' यही वह राजा उदयन हैं यह सागरिका का सहर्ष कथन कथा के अविच्छेद का हेतु है।

नाट्यदर्पणकार ने माली के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार "जिस प्रकार बीजारोपण के बाद माली उसको विकसित करने के लिए जलबिन्दु निक्षेप करता है वैसे ही फल का बीजारोपण करने के पश्चात् नाटककार बिन्दु के द्वारा उसको विकसित करने का प्रयास करता है।"

इन दोनों आचार्यों का आशय एक ही है।

पताका एवं प्रकरी :

पताका—जो प्रासंगिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे 'पताका' कहते हैं—

व्यापिप्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

जैसे—रामायण में सुग्रीव की कथा, वेणीसंहार में भीमसेन की और शाकुन्तल में विदूषक की।

पताका नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता है—प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी समस्त चेष्टायें होती हैं। गर्भ या विमर्श सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है। जैसे—सुग्रीव की राज्य प्राप्ति।

प्रकरी—प्रसंगागत तथा एक देशस्थित चरित्र को प्रकरी कहते हैं—

प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरीमता।

जैसे—कुल पत्यंक में रावण और जटायु का संवाद। प्रकरी नायक का अपना कोई फलान्तर प्रधान नहीं होता है।

प्रश्न ७५—नाटक की पाँच कार्य की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर—नाटक का प्रधान साध्य कार्य होता है, इसी साध्य की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण नाट्य प्रयत्न और उनका समारम्भ किया जाता है। इस कार्य की सिद्धि ही नाटक की समाप्ति बनती है। जो प्रधान साध्य है, सब उपायों का आरम्भ जिसके लिए सब 'समापन' एकत्र हुआ है, उसे कार्य कहते हैं—

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम् ॥

जैसे—रामचरित्र में रावण का वध।

कार्यावस्था पाँच हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्न प्राप्त्याशानियताप्ति फलागमः ॥

अर्थात् "कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

आरम्भ—आरम्भ नाटक के कार्य की वह अवस्था है, जहाँ नाटक की तीव्र इच्छा किसी फल के लिए व्यक्त होती है—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये।

अर्थात् "मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो औत्सुक्य है, उसे आरम्भ कहते हैं, जैसे—रत्नावली में कुमारी रत्नावली को अन्तःपुर में रखने के लिए यौगन्धरायण की उत्कण्ठा।

प्रयत्न—प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।

फलप्राप्ति के लिए अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को यत्न कहा जाता है। जैसे—कि रत्नावली में रत्नावली का चित्र लेखन। अथवा रामचरित में समुद्रबन्धन यथा रत्नावल्यां "तथापि नास्ति०" इत्यादि के द्वारा रत्नावली का चित्र लेखन।

प्राप्त्याशा—जब नाटक में अपेक्षित फल की प्राप्ति में कभी आशा हो और कभी निराशा, इन दोनों के संघर्ष के बाद जब फल प्राप्ति की सम्भावना बढ़ जाय उस कार्य की अवस्था का नाम प्राप्त्याशा है।

उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।

जैसे—रत्नावली के वासवदत्ता वेश में अभिसार संगम के उपाय हैं। किन्तु वासवदता रूप अपाय की आशंका भी बनी हुई है, अतः समागम रूप फल की प्राप्ति अनिश्चित होने से प्राप्त्याशा है।

नियताप्ति—विघ्नों के दूर होने पर प्राप्ति की सम्भावना निश्चित हो जाय, वहाँ नियताप्ति होती है—"अपायाभावतः प्राप्तिः नियताप्तिस्तु निश्चिताः जैसे—रत्नावली में उदयन मिलन के विघ्नों की निवृत्ति में उदयन मिलन की संभावना का जो निश्चय है, उसमें नियताप्ति की ही झलक दृष्टिगत होती है।

फलागम—साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ।

अर्थात् जहाँ फल की प्राप्ति हो जाय, वह फलागम नामक कार्य की अंतिम अवस्था है। यह कार्य की अवस्था प्रायः स्पष्ट एवं नाटक के अन्त में ही होती है। जैसे—'रत्नावली' में नायक उदयन के रत्नावली लाभ और चक्रवर्ती सम्राट पद की प्राप्ति का वर्णन है, वह फलागम ही है।

अर्थप्रकृति एवं कार्यावस्थाओं के भेद का निरूपण करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि "अर्थ प्रकृति में वस्तु को ध्यान में रखते हुए स्थितियों को विभाजित किया गया है और अवस्था में नायक के कार्य को दृष्टि में रखा गया है।" अर्थ-प्रकृति एवं कार्य की अवस्थाओं के मिलन से संधियों का निर्माण होता है।

प्रश्न ७६—विश्वनाथ कविराज के अनुसार नाट्य-संधियों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—संस्कृत नाट्य रचना में संधियों का विशेष महत्त्व है। धनंजय ने लिखा है कि 'कथावस्तु के अंगों को अन्वित करने वाली-स्थिति को सन्धि कहते हैं—अन्तरैकार्य सम्बन्धः सधिरेकान्वयः सन्धि।" धनिक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—"एक प्रयोजन से सम्बद्ध कथावस्तु के अंश से जोड़ने वाली विशेषता का नाम सन्धि है—एकेण प्रयोजनेनान्वितानाम कथांशानाम् अवान्तरार्थ प्रयोजन सम्बन्ध सन्धि।" रूपक की अर्थ प्रकृति तथा अवस्थाओं के मिलन से सन्धियों का आविर्भाव होता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य, ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम अवस्थाओं से मिलती हैं, तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति (निर्वहण) सन्धियों का आविर्भाव होता है। विश्वनाथ ने उनका इस प्रकार उल्लेख किया है।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इतिपञ्चास्यभेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।।

मुखसधि :

यह नाटक की प्रथम संधि है। यह बीज, अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक कार्यावस्था के संयोग से बनती है। यह स्थल नाटक की कथावस्तु का प्रथम विभाग होता है। फल की प्रथम अर्थप्रकृति बीज की उत्पत्ति इसी भाग में होती है। इसमें नाना रसों और अर्थों की सम्भावना समाविष्ट रहती है। विश्वनाथ के अनुसार मुख सन्धि नाटक की कथा का वह स्थल है जहाँ से अनेक उपकथाओं, रसों की उद्भावना होती है—

यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ।।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।।

अभिनवभारती में मुखसन्धि के स्वरूप का विवेचन करते हुए अभिनव ने लिखा है कि "मुखसन्धि का अभिप्रायः रस और भावप्रधान रस अर्थराशि से है जिससे

किसी रूपक का उपक्रम किया जाता है। उसी आधार पर रूपक के उस भाग को जिसमें वह अर्थराशि प्रतिष्ठित रहती है, 'मुखसन्धि' कहा जाने लगा—"प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसवतया विचित्स्वादः आपतितः तावान मुखसन्धि तदभिवायी च रूपकैकदेशः।" उदाहरण के लिए रत्नावली का प्रथम अंक देखा जा सकता है।

प्रतिमुख सन्धि :

रूपक की यह दूसरी सन्धि है। इसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था का मिश्रण होता है—कथा का वह अंश जहाँ पर बीज कुछ स्पष्ट (लक्ष्य) है और कुछ अस्पष्ट (अलक्ष्य), प्रतिमुख सन्धि से सम्बन्धित माना जाता है—

"उस बीज का जो मुखसन्धि में बोया जाता है किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रहकर, उद्भिन्न होना प्रतिमुखसन्धि है। जिस तरह पहले निकलने वाला, उगने वाला बीजांकुर कुछ अस्पष्ट अवस्था में रहता है, उसी तरह मुखसन्धि में बीज बोया जाता है और प्रतिमुखसन्धि में वह अंकुरित होता हुआ भी अस्पष्टावस्था में ही रहता है।" साहित्यदर्पणकार ने प्रतिमुखसन्धि का लक्षण लिखते हुए लिखा है कि मुखसन्धि में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य विकास जहाँ हो उसे प्रतिमुखसन्धि कहते हैं—

फल प्रधानोपायस्य मुखसंधि निवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ॥

उदाहरण के लिए—रत्नावली में वत्सराज और सागरिका के समागम का हेतु, इन दोनों का परस्पर अनुराग, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया था, उसे सुसंगता और विदूषक ने जान लिया, अतः वह कुछ लक्ष्य है और वासवदत्ता ने चित्र के वृतान्त से कुछ-कुछ ऊहा की, अतः अलक्ष्यता भी रही।

गर्भ सन्धि :

रूपक की संधियों में तृतीय सन्धि गर्भ सन्धि है। दशरूपककार के अनुसार जब बीज दिखाई पड़ जाने के अनन्तर पुनः नष्ट हो जाय, लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय तब गर्भ सन्धि होती है।

इस सन्धि में बीज पूर्णतः नष्ट नहीं होता अपितु वह धूमिल हो जाता है। उसके अन्वेषण में बीज का और भी विकास करना पड़ता है। फल के गर्भस्थ होने के कारण इसे गर्भसन्धि कहते हैं। साहित्यदर्पणकार का लक्षण इस प्रकार है—

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन।
गर्भोयत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ॥

उदाहरण के लिए—रत्नावली के द्वितीय और तृतीय अंक की कथा ली जा सकती है। इस सन्धि में पताका नामक अर्थ प्रकृति और प्राप्त्याशा नामक कार्य की अवस्था का मिश्रण रहता है किन्तु पताका का रहना नितान्त आवश्यक नहीं है, उसके बिना भी कार्य चल सकता है। "जिस बीज को प्रतिमुख सन्धि में लक्ष्यालक्ष्यारूप में

देखा गया है, वही यहाँ आकर विशेष रूप से प्रस्फुट हो जाता है, किन्तु फिर भी फल प्राप्ति का निश्चय सन्दिग्ध हो उठता है, क्योंकि इसमें कभी विघ्न आ उपस्थित होता है तो कभी अन्य व्यवधान। इस प्रकार बार-बार बीज की खोज की जाती है। "यहाँ फल प्राप्ति की सम्भावना तो रहती है, पर उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता।"

विमर्श सन्धि :

रूपक की चतुर्थ सन्धि का नाम विमर्श है। दशरूपककार इसका लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—'जहाँ क्रोध, व्यसन या लोभ से फलप्राप्ति के सम्बन्ध में पर्यालोचन किया जाय और जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्श सन्धि होती है।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार—जहाँ मुख्य फल का उपाय गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न हो, किन्तु शापादि के कारण विघ्नयुक्त हो उसे विमर्श (अवमर्श) सन्धि कहते हैं—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इतिस्मृतः॥

उदाहरणार्थ शाकुन्तल में अनुसूया के इस कथन से कि "प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तिकल्याण प्रियसखी शकुन्तला अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्तेति निर्वृतम् मे हृदयम्, तथापि एतावच्चिन्तनीयम्" से लेकर सातवें अंक के प्रत्यभिज्ञान पर्यन्त सम्पूर्ण कथा विस्मरण रूप विघ्न से युक्त है अतः यहाँ विमर्श सन्धि है। इसमें नियताप्ति और प्रकरी का सम्मिश्रण रहता है, किन्तु प्रकरी की योजना वैकल्पिक होती है।

निर्वहण सन्धि :

रूपक की पाँचवीं सन्धि निर्वहण है। विश्वनाथ ने लिखा है कि 'जहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ ही अन्यान्य अर्थों का पर्यवसान हो जाता है वहाँ निर्वहण सन्धि होती है।'

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थ्यमुपन्नीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत्॥

यहाँ पर प्रधान अर्थ की परिसमाप्ति होती है, अतः इसे निर्वहण सन्धि कहा जाता है। यह नाटक का उपसंहार होता है, अतः नाटक के समग्र प्रयोजन यहाँ मिल जाते हैं। साहित्यदर्पणकार ने ठीक ही लिखा है कि—बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं। साहित्यदर्पण का लक्षण शब्दशः दशरूपक से मिलता है निर्वहण सन्धि का उदाहरण शाकुन्तल के सातवें अंक में शकुन्तला के परिज्ञान के अनन्तर की कथा में विद्यमान है।

प्रश्न ७७—श्रव्यकाव्य का निरूपण कीजिए।

प्रश्न ७८—श्रव्यकाव्य के विभिन्न भेदों का निरूपण कीजिए।

प्रश्न ७९—मुक्तक, युग्मक, सांदानितक, कलापक और कुलक नामक काव्य के भेदों का परिचय दीजिए।

उत्तर—श्रव्य काव्य उस रसात्मक काव्य का नाम है जो केवल श्रवण के योग्य होता है, अर्थात् जिस काव्य को रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है—इसके दो भेद हैं—प्रथम पद्यमय और द्वितीय गद्यमय—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा।

पद्यमय प्रथम काव्य के अन्य भेद :

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पऽचभिः कुलकं मतम्॥

पद्यात्मक काव्य छन्दोबद्ध होता है। पद्यात्मक काव्य के अनेक भेद हैं।

मुक्तक—जिसके पद अर्थ की दृष्टि से अन्य पद से पदमुक्त रहते हैं अर्थात् मुक्तक पद अपने में पूर्ण और पूर्व तथा पर छन्दों से निरपेक्ष होता है।

युग्मक—दो पद्यों की रचना युग्मक होती है।

सांदानितक—तीन पद्यों की रचना सांदानितक होती है।

कलापक—चार पद्यों का काव्य होती है और—

कुलक—में पाँच पद्यों का 'कुल' होता है।

मुक्तक काव्य का उदाहरण :

सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपिक्षण,
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिमुहु र्ध्यानैकतानाः परम्।
धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद् ब्रह्म या कौतुका—
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च॥

"जिस सान्द्रानन्द ब्रह्म का ध्यान योगी लोग बड़े एकाग्र चित्त होकर जैसे-तैसे कभी कर पाते हैं उसी को मथुरा की स्त्रियाँ खेल-खेल में आलिङ्गन करती हैं, ऐसी युवतियाँ धन्य हैं।"

आनन्दवर्धन के अनुसार-मुक्तक में प्रबन्ध काव्यों की तरह रसास्वाद का विशेष अभिनिवेश रहता है, जैसे कि अमरूक के मुक्तकों में श्रृंगाररस का प्रवाह प्रसिद्ध ही है—"मुक्तकेषु प्रबन्धेस्वित रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयोदृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः श्रृंगार रस स्यन्दिनः प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव।"

युग्मक का उदाहरण :

किं करोषि करोपान्ते कान्ते! गण्डस्थलीमिमाम्।
प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः क्रुधः।

इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ।।

"जैसे ही मैंने उस सुन्दरी से कहना चाहा—प्रिये ! तू क्यों अपने हाथों पर कपोलस्थल रखे हुए हो, तेरा प्रियतम तो तेरे ही अनुराग से पूर्ण है, फिर ऐसे प्रेमी के प्रति एकदम क्रोध करते रहना उचित नहीं है कि आम्र-मञ्जरियों के झुरमुट में मधुर भ्रमर की गुञ्जार सुनाई देने लगी ।"

इसी प्रकार के अन्यों के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं ।

प्रश्न ८०—विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य का लक्षण सर्वमान्य है, कारण बताते हुए महाकाव्य के लक्षण का विशद विवेचन कीजिए ।

उत्तर—संस्कृत साहित्य में भामह, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया है । भामह ने प्राचीन महाकाव्यों को देखकर महाकाव्य के लक्षण की जो रूपरेखा निर्धारित की थी प्रायः परवर्ती सभी लक्षणकारों ने उसका पिष्टपेषण किया है किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने उसे विस्तार व्यवस्था और सागोपांगता प्रदान की है फलतः आज विश्वनाथ का महाकाव्य का लक्षण ही अधिक मान्यता प्राप्त है ।

भामह ने लिखा था कि—महाकाव्य सर्गबद्ध होता है वह महान विषय का निरूपक व महान होता है । सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत् । इसी प्रकार दण्डी ने भी लिखा था—"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।"

किन्तु महाकाव्य के लक्षणों का पूर्ण परिष्कार और सांगोपांगता विश्वनाथ के काव्यलक्षण में ही मिलती है । उनका महाकाव्य लक्षण इस प्रकार है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः । (३१५)
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपिवा ।। (३१६)
श्रृंगार वीरशान्तानामेकोंऽगी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वेनाटकसंधयः । (३१७)
इतिहासोद्भवं वृतमन्यद्धा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवैत् । (३१८)
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् । (३१९)
एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह । (३२०)
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् । (३२१)
संध्यासूर्येन्दु रजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्न मृगयाशैलर्तु वन सागराः। (३२२)
संयोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः। (३२३)
वर्णनीया यथायोगं सांगोपागा अमी इह।
कवे र्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा। (३२४)
नामोस्य, सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु॥ (३२५)

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर महाकाव्य की निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) महाकाव्य की कथा सर्गों में विभाजित होती है। (३१५)

(२) इसमें वर्णन की दृष्टि से एक ही नायक का चरित्र चित्रित किया जाता है। वह नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए अथवा कोई देवता। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं। (३१६)

(३) रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसमें श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक ही रस काव्य का अंगी (प्रधान) होना चाहिए और अन्य रस उसके सहायक अंग होने चाहिए। (३१७)

(४) काव्य संघटना की दृष्टि से इसमें नाटक की पाँचों संधियाँ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति को स्थान दिया जाना चाहिए। (३१७)

(५) कथावस्तु की दृष्टि से महाकाव्य का वृत्त ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए। (३१८)

(६) इसमें चार वर्णों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से कोई एक फल के रूप होना चाहिए। अन्य का वर्णन भी होना चाहिए। (३१८)

उपर्युक्त संवैधानिक तत्वों के अतिरिक्त निम्न सामान्य विशेषतायें भी महाकाव्य में प्राप्त होती हैं, जिनको महाकवि को ध्यान में रखना चाहिए।

(१) महाकाव्य का आरम्भ नमस्कार, आशीर्वचन तथा मुख्यकथा के निर्देश के रूप में मंगलाचरण भी होना चाहिए। अर्थात् यह मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक होना चाहिए।

(२) किसी-किसी महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा भी समाहित रहती है।

(३) प्रत्येक सर्ग की रचना एक छन्द में होनी चाहिए किन्तु सर्गान्त में छन्द परिवर्तन भी आवश्यक है।

(४) महाकाव्य के सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए और इन सर्गों का आकार बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। कहीं-कहीं किसी सर्ग में नाना छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। सर्गान्त में आगे आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिए।

(५) महाकाव्य के सर्गों में निम्न वर्ण्य-विषय रहना चाहिए। संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, मध्याह्न, मृगया, ऋतुवर्णन, वन,

समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, सामाद्युपाय चतुष्टय, पुत्र जन्म, अभ्युदय आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए ।

(६) महाकाव्य का नाम कवि कथा नायक अथवा किसी अन्य पात्र के नाम पर होना चाहिए ।

(७) सर्गों के नाम सर्गगत कथा के आधार पर होना चाहिए ।

विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के निम्न उदाहरणों का उल्लेख किया है ।

रघुवंश—इस महाकाव्य का नामकरण नायक के वंश के एक प्रतापी राजा के नाम पर है । शिशुपालवध का नाम इसके प्रतिनायक के नाम पर है । इस काव्य को माघ काव्य भी कहते हैं, यह नाम कवि का है अतः कवि के नाम पर भी नामकरण हो जाता है । 'नैषधीयचरितम्' निषध देश के राजा का इसमें वर्णन है, अतः वर्ण्य-विषय के नाम पर यह नामकरण है । विश्वनाथ कविराज ने अपने 'राघव विलास' को भी महाकाव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

विश्वनाथ ने महाकाव्य के वर्णन प्रसंग में महाभारत को आर्षकाव्य कहा है—**अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः ।**

इन आर्षप्रणीत काव्यों में सर्गों का नाम 'आख्यान' होता है, जैसे महाभारत । प्राकृत काव्यों में सर्गों का नाम आश्वास होता है । प्राकृतैर्निमिते तस्मिन्सर्गा आश्वास संज्ञकाः ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन पूर्ण है, विशद है। दर्पणकार ने इतिवृत्त, नायक और रसानुभूति का तो पूरा-पूरा ध्यान रखा ही है, साथ ही महाकाव्य की सामान्य विशेषताओं का भी विशद उल्लेख किया है । विश्वनाथ के महाकाव्य के स्वरूप विवेचन में ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं का भी समावेश है, डा० सत्यव्रतसिंह ने ठीक ही लिखा है कि—"अलंकार-वाद के आचार्य दण्डी के लिए, 'महाकाव्य' के लक्षणों में, उन सभी विशेषताओं का निर्देश कर देना स्वाभाविक है जो कि 'रघुवंश' आदि सर्गबन्धात्मक रचनाओं की विशेषतायें हैं । किन्तु रस ध्वनिवादी कविराज विश्वनाथ ने अपने महाकाव्य लक्षण में, उन बातों का भी निर्देश कर दिया है जो कि रस ध्वनिवाद की दृष्टि से ही, महाकाव्य में देखी जा सकती हैं । 'रसध्वनिवाद' की दृष्टि से ही, विश्वनाथ कविराज ने, महाकाव्य के लिए, शृंगार, वीर और शान्त में से किसी एक का अङ्गी और इसके रसों को अङ्गरूप से निर्दिष्ट किया है ।"

प्रश्न ८१—खण्डकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिये ।

उत्तर—संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य विश्वनाथ पहले आचार्य हैं जिन्होंने खण्डकाव्य की चर्चा की है । भामह एवं दण्डी ने खण्डकाव्य का उल्लेख भी नहीं किया है, जबकि ये दोनों ही आचार्य महाकाव्य का विस्तृत विवेचन करते हैं । रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के दो भेद—महाकाव्य लघुकाव्य माने हैं । हेमचन्द्र भी खण्डकाव्य का उल्लेख नहीं करते हैं । अतः खण्डकाव्य की चर्चा करने वाले पहले आचार्य विश्वनाथ हैं, उनके अनुसार उनका लक्षण इस प्रकार है—

काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्रयवर्जितम् ।
खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च ॥

अर्थात् "इसमें सर्गों का बन्ध आवश्यक नहीं है और न सन्धि पञ्चक की सम्पूर्ण रचना ही अपेक्षित है। इसकी रूपरेखा 'एकार्थप्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित्र से सम्बद्ध पद्यकदम्ब से ही पूर्ण हो जाया करती है। काव्य अथवा महाकाव्य के कतिपय लक्षणों से युक्त जो पद्य-प्रबन्ध है उसे 'खण्डकाव्य' कहा करते हैं जैसेकि मेघदूत आदि।"

खण्डकाव्य के लक्षण में 'एक देश' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह एक देश स्पष्ट नहीं है, सम्भवतः 'एक देश' से विश्वनाथ का आशय निम्न तथ्यों से हो सकता है—

"(१) उसमें जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।
(२) उसमें महाकाव्य के लक्षण संकुचित रूप में स्वीकार किये जाते हैं।
(३) रूप और आकार में खण्डकाव्य से छोटा होता है।
(४) कुछ अन्य विशेषताएँ—प्रभावान्विति, वर्णन, प्रवाह आदि।"

प्रश्न ८२—साहित्यदर्पणकार के अनुसार गद्य-काव्य और उसके भेदों का विवेचन कीजिये।

प्रश्न ८३—गद्य काव्य के कथा और आख्यायिका के भेदों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत द्वितीय भेद गद्य-काव्य का विवेचन करते हुए लिखा है—

वृत्त गन्धौज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ॥

गद्य शब्दार्थ की ऐसी एक योजना है—जिसमें छन्द विधान का प्रयोग नहीं किया जाता है। गद्य के चार भेद हैं—

(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक। इनमें से मुक्तक की रचना समास रहित होती है। वृत्तगन्धि में पद्य के अंश पड़े रहते हैं। तृतीय भेद में दीर्घ समासों का प्रयोग होता है और चौथे चूर्णक में छोटे-छोटे समासों का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण के लिए द्रष्टव्य हैं—

मुक्तक—गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्थात् वचन में गौरवपूर्ण तथा वृहस्पति के समान और बल में महान तथा महाराज पृथु के तुल्य। मुक्तक का प्रत्येक पद पूर्वपर से निरपेक्ष होता है।

वृत्तगन्धि :

समरकण्डूलनिविड भुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्ड
शिञ्जिनी टंकारोज्जागरितवैरिनगर इत्यादि ।
अत्र 'कुण्डली कृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुव वृत्तस्य पादः
'समर कुण्डल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

यह रचना स्वयं विश्वनाथ की है। इसमें 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टुप छन्द का एक चरण प्रतीत होता है और वह 'समर कण्डूल' पद भी प्रथम दो वर्णों को हटा देने पर अनुष्टुप छन्द का ही चरण बन जाता है।

उत्कलिकाप्राय—गद्य काव्य का उदाहरण भी विश्वनाथ कविराज का ही है—"अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिद समर परिगदपवरपरवल"—यहाँ दीर्घ समास स्पष्टतः दृष्टिगत हो रहे हैं।

चूर्णक—यथा मम-गुणरत्नसागर। जगदेकनागर। कामिनिमदन। जनरज्जन। इत्यादि।

यहाँ स्वल्प समासों का सौन्दर्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहा है। अतः यह रचना 'चूर्णक' है।

गद्य काव्य का भेद—कथा :

आख्यायिका एवं कथा काव्य का विश्वनाथ से पहले अग्निपुराणकार, भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने उल्लेख किया है। विश्वनाथ के विवेचन पर रुद्रट का प्रभाव देखा जा सकता है, रुद्रट ने लिखा है कि—"कथा के आरम्भ में देवता, गुरु आदि की पद्यमयी बन्दना हो तथा गद्य के द्वारा कथा का आरम्भ होना चाहिये, फिर कथा का विकास। कथा का प्रधान लक्ष्य कन्या प्राप्ति हो, कथा संस्कृत भाषा में होनी चाहिए।"

विश्वनाथ ने ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन से भी प्रभाव ग्रहण किया है। आनन्दवर्धन ने—कथा में विकट बन्ध का प्राचुर्य और रसबन्ध-वैचित्र्य को स्वीकार किया है—"कथायां तु विकटबन्ध प्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचिष्यमनुसर्तव्यम्।" इसीलिए विश्वनाथ ने कथा के लक्षण में 'संरस' शब्द का विशेष प्रयोग किया है। विश्वनाथ का लक्षण इस प्रकार है—

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्त कीर्तनम् ।
यथा कादम्बर्यादिः ।

अर्थात् "कथा में सरस कथावस्तु गद्य द्वारा लिखी जाती है। इसमें कहीं-कहीं आर्याछन्द और कहीं वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्द होते हैं। आरम्भ में पद्यमय नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया जाया है और खल निन्दा तथा सज्जन प्रशंसा विषयक पद्य भी होते हैं। उदाहरण के लिए कादम्बरी को देखा जा सकता है।

गद्यकाव्य का दूसरा भेद—आख्यायिका :

अग्निपुराणकार ने आख्यायिका की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया था—"आख्यायिका वह है जिसमें नायक के चरित्र एवं वंश का विस्तारपूर्वक वर्णन हो, प्रशंसा हो और जिसमें संग्राम, कन्याहरण, विप्रलम्भ श्रृंगार तथा विपत्तियों का वर्णन हो। यह आख्यायिका रीति एवं वृत्ति के परिष्कार से सज्जित हो, जिसमें लम्बक, उच्छ्वास या परिच्छेद के रूप में अध्याय भी हों। इसके गद्य की शैली चूर्णक बहुल हो। कहीं-कहीं 'वक्त्र' और 'अपरवक्त्र' नामक छन्दों का भी प्रयोग हो।"

इसी प्रकार की विशेषतायें आख्यायिका की भामह, दण्डी आदि ने भी बतलाई थीं। उनकी विशेषताओं का संग्रह कर विश्वनाथ ने आख्यायिका का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्य कवीनां च वृत्त पद्यं क्वचित्क्वचित्।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।
यथा हर्षचरितादिः।

अर्थात् आख्यायिका कथा के समान होती है। इसमें कवि वंश वर्णन होता है और अन्य कवियों का वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं। यहाँ कथा भागों का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्यावक्त्र या अपरवक्त्र छंद के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में आगे की कथा की सूचना दी जाती है। जैसे बाणभट्ट द्वारा रचित 'हर्षचरितम्'।

इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का खण्डन भी किया है—"आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निबद्ध होनी चाहिए" यह किन्हीं का मत है—वह ठीक नहीं है, क्योंकि आचार्य दण्डी ने लिखा है कि—अपि त्वनियम इति—'आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं—केवल नायक ही के नहीं'—अतः इस विषय में कोई नियम नहीं है।" आख्यानदिक कथा और आख्यायिका के अन्तर्गत समाहित होते हैं। यह भी दण्डी ने ही लिखा है—अत्रेति। इनके उदाहरण पञ्चतन्त्र आदि हैं—

'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्' इति दण्ड्याचार्यवचनात्केचित् 'आख्यायिका नायकेनैवे निबद्धव्या।' 'इत्याहुः तदयुक्तम्। आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः। यदुक्तं दण्डिनैव अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' इति। एषामुदाहरणम्-पंचतन्त्रादि।

प्रश्न ८४—गद्य-पद्य संयुक्त काव्य कौन-कौन से हैं। स्पष्ट लिखिए।

प्रश्न ८५—'चम्पू', विरुद और करम्भक काव्य के लक्षण लिखिए।

उत्तर –गद्य-पद्यमय काव्यों में चम्पू, विरुद और करम्भक की गणना होती है।

चम्पू—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।

अर्थात् "जिसमें गद्य और पद्य दोनों ही हों ऐसे काव्य को 'चम्पू' काव्य कहते हैं। जैसे—देशराजचरितम्, नलचम्पू और भारतचम्पू आदि ।

विरुद—"गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।"

अर्थात् गद्यपद्यमय राजस्तुति का नाम 'विरुद' है। जैसे विरुदमणिमाला ।

करम्भक—'करम्भकं तु भाषाभिविविधाभिर्विनिर्मितम् ।'

अर्थात् विविध भाषाओं में निर्मित करम्भक कहलाता है।

उदाहरण के लिए—विश्वनाथ की षोडश भाषामयी रचना-प्रशस्तिरत्नावली ।

———

सप्तम परिच्छद

दोष निरूपण

प्रश्न ८६—काव्य दोषों का सामान्य लक्षण लिखिए। दोष कितने प्रकार के होते हैं ? प्रमुख दोषों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—काव्य सौन्दर्य के लिए रस, गुण और अंलकारों का महत्त्व स्वयं सिद्ध है, इन तत्वों से सम्पन्न काव्य सहृदय को आनन्द प्रदान करता है किन्तु काव्य की श्रेष्ठता उसके निर्दोष होने में है। यह निर्दोषिता ही काव्य का गुण है—"महान निर्दोषिता गुणाः।" निर्दोष काव्य ही प्रशंसा प्राप्त करता है। आचार्य दण्डी को काव्य में दोषों की जरा भी उपेक्षा सह्य नहीं है। उन्होंने लिखा है कि—जैसे कुष्ठ का एक धब्बा सुन्दर शरीर को कुरूप बना देता है, वैसे ही दोष, काव्य को असुन्दर बना देते हैं अतः दोषों से बचना चाहिए—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।
इति दोषा ... वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥

काव्यास्वाद में बाधक, काव्य के आस्वाद में उद्वेग-जनक तत्व दोष कहलाते हैं—"उद्वेगजनकोदोषः।" ये दोष काव्य के मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा पहुँचाते हैं, मुख्य अर्थ है रस, शब्द उसके वाचक हैं अतः दोष—शब्द, अर्थ और रस इन तीनों के सौन्दर्य के बाधक होते हैं—"मुख्यार्थहतिदोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।"

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस के अपकर्षक दोष कहलाते हैं—रसापकर्षका दोषाः ।

आचार्य विश्वनाथ के 'रसापकर्षकादोषाः' का विवेचन करते हुए डा० सत्यव्रतसिंह ने लिखा है कि काव्य के 'रसात्मक वाक्य' रूप होने के कारण, काव्य के दोष 'रस के अपकर्षक तत्व' ही हो सकते हैं। इसके अपकर्षककारक तत्वों में 'साक्षात्' और 'परम्परया' रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्ति-युक्त ही है। 'साक्षात्' रस के अपकर्ष की तीन संभावनायें हैं—(१) रस की प्रतीति का अभाव, (२) रस की विलम्ब से प्रतीति और (३) रस प्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता। इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्व रस दोष ही सिद्ध होते हैं। 'रस दोष' की उत्पत्ति कवि की अशक्ति से संबद्ध है। कवि की 'अव्युत्पत्ति' भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस 'अव्युत्पत्ति' से उन दोषों का सम्बन्ध है जो परम्परया रस के अपकर्ष-जनक तत्व हुआ करते हैं। मानव के शरीर में काणत्व, खञ्जत्व आदि की भाँति काव्य के शब्दार्थशरीर में श्रुति कटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं और मानव में मूर्खत्व, अलसत्व आदि की भाँति काव्य के वे दोष हैं जिन्हें एक शब्द में 'रस-दोष' कहा गया है। —हिन्दी साहित्य-दर्पण, पृ० ५५६

चूँकि काव्य का प्रधान तत्व रस है, अतः रस दोष काव्य के मुख्य दोष रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है, अर्थ का ज्ञान शब्दाश्रित है अतः शब्द दोष और अर्थ दोषों का स्थान रस दोष के बाद है। शब्द भी पद और वाक्य के रूप में उपस्थित होकर उपकारक होता है। पद के किसी भी अंश में दोष सम्भव है, ऐसे दोषों का नाम पदांश दोष है। इस प्रकार काव्य के दोष पाँच प्रकार के होते हैं—(१) पद दोष, (२) पदांश दोष, (३) वाक्य दोष, (४) अर्थ दोष और (५) रस दोष—

रसापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मतः ।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि च ॥

प्रमुख दोषों का सोदाहरण विवेचन—

पद और पदांश दोष :

दुःश्रवत्वः—काव्य में कानों को अप्रिय लगने वाली एवं कठोर वर्णों की रचना को दुःश्रवत्व या श्रुति कटुत्व दोष युक्त कहते हैं—परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

जैसे—कातार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा ।

इस उदाहरण में 'कार्तार्थ्यं' इस शब्द में त, थ, र के संयोग से कठोरता आई है, अतः इसमें दुःश्रवत्व, श्रुतिकटुत्व या श्रुतिदुष्टत्व दोष है। किन्तु यह शृंगार रस में ही दोष है, वीर, रौद्र आदि उग्र रसों में यह गुण है। अतः यह अनित्य दोष है।

अश्लीलत्व—जो असभ्य अर्थ का व्यंजन करे उसे अश्लील कहते हैं, यह व्रीडा, घृणा और अमंगल का सूचक होना से तीन प्रकार का है—

"अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात् त्रिविधम् ।" क्रमशः उदाहरण—

दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव ।

"हे राजन्, मदान्ध शत्रुओं को विजय कराने में तुम्हारा 'साधन' (सेना) बहुत बड़ा है। यहाँ 'साधन' शब्द से लिङ्ग रूप लज्जाजनक अर्थ भी व्यक्त होता है।" यह व्रीडा रूप अश्लीलत्व का उदाहरण है।

जुगुप्सा एवं अमङ्गल जनक अश्लीलत्व का उदाहरण—

प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा ।

हे तन्वि तब तुम्हारे 'विनाश' (अदर्शन=चले जाने) के समय 'वायु' धीरे से चली। इस उदाहरण में 'वायु' शब्द अपानवायु का सूचक है अतः घृणा का और 'विनाश' शब्द मरण का बोधक है अतः अमंगल का व्यंजक है। अतः इस उदाहरण में भी अश्लीलत्व दोष है।

अनुचितार्थत्वम्—'शूरा अमरतां यान्ति पशुभूतारणाध्वरे' अर्थ—रणरूपी यज्ञ में पशुभूत शूर गण अमरत्व को प्राप्त होते हैं। यहाँ शूरो में पशु की समानता कहने से उनकी कातरता व्यक्त होती है। यज्ञीय पशु की भाँति विवश होकर मरना शूरों का कार्य न होकर कायरों का है, अतः यहाँ पशु शब्द में अनुचितार्थत्व दोष है।

अप्रयुक्तत्वं—कोष आदि में उस रूप से प्रसिद्ध होने पर भी यदि काव्यों में उस शब्द का अप्रयोग हुआ हो तो उसे अप्रयुक्तत्व दोष कहते हैं—तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृत्यत्वम् ।

जैसे—"भाँति पद्मः सरोवरे।" पद्म शब्द अपुंसक लिङ्ग में ही प्रसिद्ध है, पुल्लिङ्ग में नहीं, अतः यहाँ अप्रयुक्तत्व दोष है। क्योंकि उसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में है—अत्र पद्मशब्दः पुल्लिङ्गः ।

अप्रतीतत्वं—जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो केवल शास्त्रों में ही प्रसिद्ध हो, परन्तु लोकव्यवहार में नहीं, वहाँ अप्रतीतत्व दोष होता है—

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्र प्रसिद्धत्वम् ।

जैसे—"योगेन दलिताशयः।" यहाँ पर प्रयुक्त 'आशय शब्द' वासना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु यह शब्द वासना के लिए केवल योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है, लोक में नहीं, अतः अप्रतीतत्व दोष है—

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

ग्राम्यत्व—साहित्यिक रचना में ग्रामीण बोलचाल के शब्दों का प्रयोग होने पर ग्राम्यत्व दोष होता है, जैसे—कटिस्ते हरतेमनः यहाँ 'कटि' शब्द ग्राम्य है। "अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः"।

निहतार्थत्वं—प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के बाचक शब्द का अप्रसिद्ध

अर्थ में प्रयोग करने से 'निहतार्थत्व' दोष होता है—निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः। जैसे—"यमुनाशम्बर व्यतानीत्" 'शम्बर' शब्द कोष में जल के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु काव्य में उसका प्रयोग शम्बर नामक असुर के लिए हुआ है, अतः जल के लिए यह शब्द अप्रचलित है—"शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः। इह तु जले निहतार्थः"।

क्लिष्टत्वम्—अभिधेय अर्थ की प्रतीति का व्यवधान होना क्लिष्टत्व दोष है—"क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम्।" जैसे—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः' अर्थात् जल स्वच्छ है, यह कहने के लिए यह वाक्य है—क्षीरोदका अर्थ है क्षीरसागर, उसकी कन्या क्षीरोदजा लक्ष्मी, उसकी वसति (निवास स्थान) कमल, उसकी जन्मभूमि जल, प्रसन्न=स्वच्छ है। "अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसति पद्म तस्य जन्मभुवो जलानि।" निश्चय ही यहाँ अर्थ की प्रतीति बड़े कष्टों में होती है। अतः यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

विरुद्धमतिकृत 'भूतयेऽस्तु भवानीशः' भगवान शंकर आपका कल्याण करें।

भवानी (भव=शिव की पत्नी) के ईश=पति कल्याण करें। यहाँ 'भवानीश' शब्द से पार्वती का अन्य कोई दूसरा पति प्रतीत होता है। अतः यहाँ "विरुद्ध मतिकारिता" दोष है। क्योंकि यह पद भ्रम पैदा करता है—"अत्र भवानीश शब्दो भवान्याः पत्यन्तर प्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत।"

अविमृष्टविधेयांश दोषः—जहाँ विधेय अंश का विमर्श (परामर्श) न हो, वहाँ 'अविमृष्टविधेयाशत्व' दोष है। उदाहरणार्थ—

स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथाच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।

"इस वाक्य में वृथात्व विधेय है—उसे समास में डालकर उसका उपसर्जन कर दिया गया है तत्पुरुष समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान रहता है, अतः यहाँ वृथात्व अप्रधान हो गया है—अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्।"

अन्य उदाहरण—"आसमुद्रक्षितीशानाम्"।

इस उदाहरण में राज्य का असमुद्रपर्यन्त होना विधेय है। अतः 'आसमुद्रम्' पद का समास नहीं करना चाहिए था। यहाँ "अत्राऽऽ समुद्रमिति वाच्यम्।"

अन्य उदाहरण—' "रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे।' मैं रामानुज हूँ क्या मेरे समक्ष राक्षस ठहर सकेंगे।" "यहाँ वक्ता को राम के सम्बन्ध से ही अपने में विशेषता बतानी है, परन्तु सम्बन्ध वाचक षष्ठी विभक्ति का लोप हो गया है और रामशब्द को समास में डालकर उसकी प्रधानता दबा दी गई है अतः उक्त वाक्य में विधेयाविमर्श या अविमृष्ट विधेयांशत्व" नामक दोष है। "यहाँ 'रामस्य' यह पद पृथक रहना चाहिए था"—'अत्र रामस्येति वाच्यम्।'

पदांश दोष—जहाँ दोष सम्पूर्ण पद में न होकर उसके अंश विशेष में ही सीमित हो।

निहतार्थता—यह दोष किसी पद का, अपने प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दोनों ही अर्थों के बोध में समर्थ रहने पर, अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने पर होता है, फलतः अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है—'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते' 'मत्ता' शब्द प्रमत्त (मस्त) स्त्री के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ उसका तद्वत्तारूप अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग है, अतः निहतार्थता दोष है। 'धातुमत्ता' पद के एक अंश 'मत्ता' के दूषित होने से यह पदांश दोष है।

श्रुतिकुटु—कर्णकटु शब्दों के प्रयोग होने पर यह दोष होता है—जैसे—"तद् गच्छ सिद्धयै, कुरू देवकार्यम्" इस वाक्य का एक अंश 'द्धयै' कर्णकटु है अतः यहाँ पदांश श्रुतिकटु दोष है।

वाक्य दोष—वाक्य दोष एक से अधिक दोषयुक्त पदों का प्रयोग होने पर यह दोष होता है। दूषित शब्द सम्पूर्ण वाक्य को प्रभावित कर देते हैं।

हतवृत्तत्वम्—"जो छन्द लक्षण के अनुसार होने पर भी सुनने में अच्छा न लगे और जो छन्द रस के विरुद्ध हो अथवा जिसके अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुत्व को प्राप्त न कर सके यह तीन प्रकार का हतवृत दोष होता है"—हतवृतं लक्षणानुसरगेऽप्यश्रव्यं रसाननुगुणमप्राप्तगुरुभावान्तलघु च।'

क्रमशः उदाहरण—

हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।

यह लक्षण के अनुसार होने पर भी सुनने में अच्छा नहीं लगता है।

अयिमयि मानिनी मा कुरू मानम्।

यह छन्द हास्यरस के अनुरूप है, किन्तु मानिनी के मान को दूर करते समय इसका प्रयोग उचित नहीं है।

विकसितसहकार भारहारि परिमल एष समागतो वसन्तः।

इस उदाहरण के प्रथम चरण में लघुवर्ण "हारि" रि को गुरुत्व नहीं हो सकता है। "छन्द शास्त्र में पाद के अन्तिम लघु वर्ण को भी गुरु मान लेने की जो व्यवस्था है वह केवल द्वितीय और चतुर्थ पाद के लिए है। प्रथम और तृतीय चरणों में तो केवल वसन्त तिलकादि छन्दों के लिए ही है यहाँ "प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः" यह पाठ करना उचित है यत्पादान्तलघोरपि गुरुभाव उक्तस्तसर्वत्र द्वितीय चतुर्थ पादविषयत्वम्। प्रथम तृतीय पादविषयं तु वसन्ततिलकादिरेव। अत्र प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः इति पाठो युक्तः।

अक्रमता—जिस वाक्य में पदों का सन्निवेश उचित स्थान पर न हो वहाँ 'अक्रमता' नामक दोष होता है; जैसे—

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्॥

अर्थात् संसार में समय ही सबको सबल और निर्बल बनाता है यह बतलाते हुए मयूरों के स्वरों को परुष बनाने वाले हंसों के शब्द शरद ऋतु में मनोहरता को

प्राप्त हुए। "यहाँ समय एव करोति बलाबलम्" इस वाक्य के अर्थ का 'इति' शब्द से परामर्श किया गया है अतः इसी परामृश्यमान वाक्य के अनन्तर इति पद आना चाहिए। वहाँ न रखकर 'प्रणिगदन्तः' के आगे उसे रखने से यहाँ अक्रमतादोष हुआ है"—अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते न तु प्रणिगदन्त इत्यनन्तरम्।

अन्य उदाहरण—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमति कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।

इस श्लोक में पार्वती के प्रति शिव की उक्ति है। "शिवजी के साथ पाणि-ग्रहण की उत्कण्ठा से घोर तपस्या करती हुए पार्वती के प्रति वटुक वेश में छिपे हुए परीक्षार्थी शिव की यह उक्ति है। यहाँ 'त्वम्' पद के आगे च शब्द का प्रयोग होना चाहिए था न कि लोक के साथ; क्योंकि उसी का चन्द्रकला के साथ समुच्चय प्रकट करना है लोक का नहीं—अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः।"

अमतपरार्थता—"जहाँ कोई अनिष्ट अर्थान्तर प्रतीत होता हो वहाँ 'अमत-परार्थता' नामक दोष होता है। जैसे—

राममन्मथशरेणताडिता

'यहाँ शृंगार रस की प्रतीति होती है वह वीभत्स रस का विरोधी होने के कारण अनिष्ट है अत्र शृंगाररसस्य व्यंञ्जका द्वितीयोऽर्थः प्रकृत रस विरोधि-त्वादनिष्टः।'

भग्नप्रक्रमता—जिस क्रम से आरम्भ किया है उसका अन्त तक उसी क्रम से निर्वाह अपेक्षित है यदि इस क्रम का भंग हो तो 'भग्नप्रक्रमता' दोष होता है जैसे—'एवमुक्तो मंत्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत।' यहाँ 'उक्त' में वच धातु का प्रयोग है और इसी क्रम से प्रत्यभाषत में भी उसी धातु का प्रयोग होना चाहिए था, भाष धातु का नहीं—अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् तेन 'रावणः प्रत्यवोचत इतिप्पठो युक्तः।'

प्रसिद्धित्यागो—जहाँ वाक्य में कवि समुदाय या प्रयोग में प्रसिद्ध अर्थों या नियमों का पालन न किया जाय वहाँ प्रसिद्धित्याग नामक दोष होता है—'घोरो वारिमुचा रवः' मेघों के शब्द को रव नहीं कहते हैं गर्जित, स्तनित आदि कहते हैं अतः यहाँ प्रसिद्धित्याग दोष है—अत्र मेघानां गर्जितमव प्रसिद्धम्। कहते भी हैं—

मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु तु कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जित प्रमुखम्॥

अर्थात् "मञ्जीरादि के शब्दों को रणित, पक्षियों के शब्द के लिए कूजित, सुरत के शब्द को मणित आदि कहते हैं मेघ और सिंहादि के लिए गर्जित आदि का प्रयोग होता है।

अस्थानपदता—जिस वाक्य में पद-विशेष की अनुचित स्थान (अस्थान) पर प्रयुक्त हो, वहाँ अस्थान पदता दोष होता है। जैसे—

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्यगङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनीबभूवहंसा नभोलंघनलोलपक्षाः।।

इस उदाहरण में 'तदीय' शब्द से गंगा आक्षिप्त है किन्तु उससे पूर्व शब्द अवश्य आना चाहिए था क्योंकि सर्वनाम से पूर्व का परामर्श होता है। इसी प्रकार—

हितान्न यः संश्रणुते स किं प्रभुः।

यहाँ 'संश्रृणुते' के साथ 'नञ्' का सम्बन्ध है अतः उससे पूर्व नञ् होना चाहिए था—अत्र संश्रृणुते इत्यतः पूर्वं नञ्ः स्थितरुचिता।

सङ्कीर्णत्व—दूसरे वाक्य के पद यदि दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जायँ वहाँ सङ्कीर्णत्व दोष होता है—'वाक्यान्तर पदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम्।' जैसे—"चन्द्र मुञ्च कुरङ्गाक्षि पश्य मानं नभोङ्गने।" यहाँ चन्द्र का सम्बन्ध पश्च के साथ है और मुञ्च का 'मानम्' के साथ। यहाँ नमोगने पाठ उचित था।

गर्भितत्व—एक वाक्य में यदि दूसरा वाक्य समाविष्ट हो जाय वहाँ गर्भितत्व दोष होता है 'वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता'। जैसे—

रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना।
वदामि सखि ते तत्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः।।

इस उदाहरण में 'वदामि सखि ते तत्त्वम्।' यह वाक्यान्तर बीच में समाविष्ट हो गया है अतः यहाँ 'गर्भितत्व' वाक्य दोष है।

अर्थ दोष—अर्थ दोष वहाँ होता है जहाँ पदों का संयोजन निर्दुष्ट होते हुए भी अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति दूषित हो। इनकी संख्या तेईस है। उनके नाम है—अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निर्हेतुत्व, प्रकाशित विरुद्धत्व, सन्दिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धत्व, विद्याविरुद्धत्व, साकाङ्क्षत्व, सहचरभिन्नत्व, अस्थान युक्तत्व, अविशेष में विशेष, अनियम में नियम, विशेष में अविशेष, नियम में अनियम, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व और निर्मुक्त-पुनरुक्तत्व।

प्रमुख अर्थ दोषों का सोदाहरण विवेचन—

अपुष्टत्वम्—जहाँ कोई पदार्थ मुख्य अर्थ का उपकारी न हो वहाँ अपुष्टत्व नामक अर्थ दोष होता है—"अपुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम्"। जैसे—

विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्चरुषं प्रिये।

इस उदाहरण में 'वितत' शब्द मान त्याग का सहायक नहीं है, जैसे "उद्दीपक होने के कारण चन्द्रोदय 'मानत्याग' का हेतु है वैसे आकाश का विस्तार उपयोगी नहीं है।" अत्र विततशब्दो मानत्याग प्रति न किंचिदुपकुरुते।

अधिकपदता में पदार्थ के अन्वय के साथ ही बाधा का ज्ञान हो जाता है,

किन्तु यहाँ अन्वय के बाद में बाधा की प्रतीति होती है, "अधिक पदत्वे पदार्थान्वय-प्रतीतेः समकालमेव बाध प्रतिभासः इह तु पश्चादिति विशेषः।"

दुष्क्रमता—जहाँ वस्तुओं का क्रम नष्ट होता है। वहाँ दुष्क्रमता दोष होता है। जैसे—

देहि मे वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम्।

इस उदाहरण में हाथियों की याचना ही लोक सम्मत होती, उसके बाद घोड़ों की। किन्तु यहाँ क्रम बदला हुआ है—

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनामुचितम्।

व्याहतत्वम्—जहाँ एक साथ उपन्यस्त दो अर्थों में मूलतः विरोध प्रतीत हो अर्थात् पहले किसी एक वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रकट कर बाद में उसके विपरीत कथन हो वहाँ व्याहतत्व दोष होता है—"कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पाश्चात्तदन्य प्रतिपादनं व्याहतत्वम्"। जैसे—

हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका॥

"जिन लोगों को चन्द्रमा की अभिनव कला आनन्द नहीं देती, उन्हीं को आनन्द प्रदान करने के लिए यहाँ प्रकृत कामिनी में चन्द्रिकात्व का आरोप है, अतः यहाँ अर्थ व्याहतत्व दोष है—अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः।"

अनवीकृतत्व—जहाँ अर्थ की योजना बिना किसी नवीनता या विलक्षणता के हो, वहाँ अनवीकृतत्व दोष होता है—

सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥

इस उदाहरण के चारों चरणों में 'सदा' शब्द का प्रयोग है, उसमें कोई नवीनता नहीं है अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

प्रकाशितविरुद्धता—जहाँ अर्थ इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाय कि उससे कोई दूसरा विरुद्ध अर्थ भी प्रकाशित होने लगे, वहाँ 'प्रकाशितविरुद्धता' दोष होता है। जैसे—

कुमारस्ते नराधीश, श्रियं समधिगच्छतु।

'हे राजन्! आपके रामकुमार राज्यलक्ष्मी प्राप्त करें।' यह आशीर्वाद है किन्तु 'तुम मर जाओ' यह विरुद्ध अर्थ भी यहाँ भासित हो रहा है, क्योंकि राजा के जीवित रहने पर कुमार को राजलक्ष्मी कैसे मिल सकती है, अतः यहाँ प्रकाशित विरुद्धत्व दोष है—अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थ प्रकाशनात्प्रकाशित विरुद्धत्वम्।

प्रसिद्धिविरुद्धता—जहाँ लोक या व्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन न हो वहाँ 'ख्याति विरुद्धता' दोष होता है, जैसे—

ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।

इसके बाद युद्ध में शुभ्रशूल लिए हुए विष्णु घूमने लगे । किन्तु विष्णु का शूल संसार में प्रसिद्ध नहीं है । विष्णु का चक्र और शिव का शूल प्रसिद्ध है, अतः यहाँ लोक प्रसिद्धि का विरोध है "अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।"

इसी प्रकार—"पादाघातादशोकस्पे संजाताकुंरकण्टकः ।"

रमणियों के पदाघात से अशोक पुष्पित होता है न कि उसमें अंकुर निकलता है । यहाँ कवि समय प्रसिद्धि का विरोध है—'अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं नत्वंकुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता ।'

प्रश्न ८७—रस दोनों का सोदाहरण विवेचन कीजिए ।

उत्तर—रस काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्व है, आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य के लक्षण में स्थान देकर उसे काव्य का आत्मतत्व घोषित किया है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यं ।" अर्थात् काव्य का सार रस है क्योंकि "सबसे प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवन-भूत आत्मा है, वह वाक्य 'रसात्मक' कहलाता है—"रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य ।" इस आत्मतत्व की निष्पत्ति सर्वथा निर्दोष होनी चाहिए ।

रस-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से निष्पन्न होता है—इस रस का आस्वाद् वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य होता है—यह किसी अन्य वस्तु के सम्बन्ध से रहित होता है । रस वाच्य नहीं है वरन् विभावादिकों द्वारा प्रतीत होने वाला है । व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता है, किन्तु ध्वनित होता है । साहित्य में ध्वनि की प्रधानता स्थापित हो जाने पर रस-ध्वनि काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, फलस्वरूप रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुणदोष का तदनुसार विवेचन किया जाने लगा । इस प्रकार रस दोषों का आविर्भाव हुआ । रसौचित्य के आधार पर दोष दो प्रकार के हैं—एक नित्य और दूसरे अनित्य । वे दोष, जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं, वे नित्य दोष हैं । अनित्य दोष का सम्बन्ध रूप और आकार से है । इस प्रकार रस दोष नित्य दोष हैं और शब्द तथा अर्थ दोष अनित्य हैं ।

आनन्दवर्धनाचार्य ने रस दोषों का विवेचन करते समय दोष के स्थान पर 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है । आनन्दवर्धन के अनुसार रस भंग के पाँच कारण हैं—

(१) विरोधि रस सम्बन्धी विभावादिकों का ग्रहण ।

(२) रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन ।

(३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन ।

(४) रस का पूर्ण परिपोष हो जाने पर उसका बार-बार उद्दीपन करना ।

(५) व्यवहार का अनौचित्य ।

आचार्य मम्मट ने इन रस दोषों का विस्तार से विवेचन किया है। वे इस प्रकार हैं—(१) स्वशब्दवाच्यता, (२) विभावों और अनुभावों की कष्ट कल्पना, (३) परिषन्थिसाङ्गपरिग्रह, (४) रस की पुनः-पुनः दीप्ति, (५) अकांड में विस्तार, (६) अकाण्ड छेदन, (७) अंगभूत रस की अतिवृद्धि, (८) अङ्गी का अननुसन्धान (अंगी की विस्मृति) (९) प्रकृति का विपर्यय, (१०) अनंगवर्णन—

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः
अकाण्डे प्रथनच्छेदो अंगस्याप्यतिविस्तृतिः।
अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युदीदृशाः।

(का० प्र० ७/६०-६२)

आचार्य मम्मट ने रसविषयक दोषों में ऐसे कुछ दोषों का उल्लेख किया है जो पद्य विशेष में न होकर काव्य अथवा नाटक आदि प्रबन्ध कृतियों में होते हैं। आचार्य विश्वनाथ रस दोषों की दृष्टि से आचार्य मम्मट से पूर्णतः प्रभावित हैं; उन्होंने लगभग उन्हीं शब्दों और उदाहरणों के द्वारा रस दोषों का विवेचन किया है जिनमें मम्मट रस दोषों का विवेचन कर चुके थे। विश्वनाथ के अनुसार रस दोष निम्न हैं—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः।
अंगिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम्।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः॥

अर्थात्—"किसी रस का उसके वाचक पद से अर्थात् सामान्य वाचक 'रस' शब्द से या विशेष वाचक शृंगारादि शब्द से कथन करना, एवं स्थायीभाव और संचारी भावों का उनके वाचक पदों से अभिधान करना, विरोधी रस के अंगभूत विभाव अनुभावादिकों का वर्णन करना, विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार या विच्छेद करना; बार-बार उसे दीप्त करना, प्रधान को भुला देना, जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना, अंगभूत रस को अतिविस्तृत करना, प्रकृतियों का विपर्यास (उलट-पुलट) करना, अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग करना—ये सब रस के दोष कहाते हैं।"

उपर्युक्त दोषों का विस्तृत एवं सोदाहरण क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

रस का स्वशब्द से कथन—" 'रस' शब्द के प्रयोग से न तो रस उपस्थित होता है और न 'श्रृंगार' शब्द के प्रयोग से श्रृंगार। रस तो एक अखण्ड स्वप्रकाशानन्द संवेदन है। यह एकमात्र अभिव्यंग्य तत्व है, इसे कदापि वाच्य नहीं बनाया जा सकता। इसे वाच्य बनाने में कोई चमत्कार नहीं मिल सकता। इसीलिए 'रस की स्वशब्द-वाच्यता' एक रस दोष के रूप में मान्य है।"

रस का स्वशब्द रस शब्द सामान्य तथा श्रृंगारादि शब्द विशेष से भी अभिप्राय है, दोनों के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षी रसो नः कोऽप्यजायत।

तथा—

चन्द्रमण्डलमालोक्य श्रृंगारे मग्नमनन्तरम्।

'तामुद्वीक्ष्य' श्लोक में 'रस' शब्द से रस का कथन किया गया है तथा उत्तरार्द्ध में श्रृंगार शब्द से उसका कथन है, अतः यहाँ स्वशब्द वाच्यत्व दोष है।

स्थायीभाव का स्वशब्द वाच्यत्व :

अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।

इस उदाहरण में 'रति' शब्द से स्थायी भाव का कथन है, अतः स्वशब्द-वाच्यत्व दोष है।

व्यभिचारिभाव का स्वशब्द वाच्यत्व :

जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।

इस उदाहरण में लज्जारूप स्थायीभाव का 'स्वशब्दवाच्यत्व' है। इसी उदाहरण के प्रथम चरण में यदि "आसीन्मुकुलिताक्षी सा" पाठ हो तो यहाँ अनुभाव के द्वारा लज्जा का वर्णन उचित है।

रस के प्रतिकूल विभाव आदि ग्रहण करना :

मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्

इस उदाहरण में यौवन की अस्थिरता का कथन श्रृंगार रस विरोधी शान्त रस का अङ्ग है, उसी का यह उद्दीपन विभाव है अतः यहाँ श्रृंगार रस में उसका कथन अनुचित है—"अत्र यौवनास्थैर्य निवेदनं श्रृंगाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्यङ्ग शान्तरसस्यैव च विभाव इति श्रृंगारे तत्परिग्रहो न युक्तः।"

अनुभाव की कष्टकल्पना—जहाँ अनुभाव का ठीक-ठीक ज्ञान न हो सके वहाँ विभाव या अनुभाव की कष्टकल्पना नामक रस दोष होता है जैसेः—

धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे।
ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी॥

इस उदाहरण में शृंगार रस का उद्दीपन विभाव चन्द्रमा और आलम्बन विभाव नायिका (अनुभावपर्यवसायी) हैं, आशय यह है कि अनुभाव की कठिनता से कल्पना कराते हैं—"उक्त पद्य में चन्द्रमा उद्दीपन विभाव है और नायिका आलम्बन विभाव है परन्तु नायक के रतिकार्य (अनुभाव) का सूचक कोई पद नहीं है। उसका आक्षेप कठिनता से करना पड़ता है। नायिका के कटाक्ष विक्षेप और स्मित यद्यपि रति के कार्य हैं, किन्तु नायक का स्पष्ट वर्णन न होने के कारण यह कहना कठिन है कि वे रति के कार्य हैं या स्वाभाविक विलासमात्र। वक्ता यहाँ नायक है या कोई तटस्थ यह भी पता नहीं चलता। यदि नायक है तो 'निरीक्ष्यताम्'' किससे कहता है? यदि वक्ता कोई और है तो जिससे कह रहा है वह नायक ही है या कोई रास्ता चलता? इसकी बात को सुनकर उसके हृदय में रति का संचार हुआ भी या नहीं? इत्यादिक जटिलता के कारण यहाँ अनुभावों की कल्पना कष्ट से होती है।

विभाव की कष्ट कल्पना—

परिहिरति रतिं मतिं लुनीते स्खलिततरां परिवर्तते च भूयः।
इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्रकुर्मः॥

इस श्लोक में वर्णित व्याकुलता आदि अनुभाव न केवल शृंगार रस में अपितु करुण, वीभत्स आदि रसों में भी सम्भव हैं। अतः स्त्री रूप आलम्बन विभाव यहाँ कठिनता से प्रतीत होता है। यही विभाव की कष्ट-कल्पना है।

अकाण्डे प्रथन—असमय में रस का विस्तार जैसे—वेणोसंहार के दूसरे अंक में जब अनेक कौरव वीरों का विनाश हो रहा था। उस समय दुर्योधन का भानुमती (पत्नी) के साथ शृंगार का वर्णन लिया जा सकता है—"वेणीसंहारे द्वितीये अंके प्रवर्तमानानेकवीर संक्षये काले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृंगार प्रथनम्।"

अकाण्डे च्छेदो—अनुचित स्थान पर रस भङ्ग करना।

महावीर चरित के द्वितीय अंक में जहाँ राम और परशुराम का युद्धोत्साह अविच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त हो रहा है वहाँ राम का कंकण मोचन के लिए जा रहा हूँ कह कर युद्धोत्साह से विरत हो जाना वर्णित है। इससे रामगत वीर रस के आस्वाद में विघ्न पड़ गया है, अतः यह दोष है—

छेदो यथा-वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरुढेऽन्योन्यसंरभे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः।

रस की पुनः पुनः दीप्ति—इस दोष से आशय यह है कि किसी रस का परिपाक हो जाने पर अर्थात् उसका अभिप्राय समाप्त हो जाने पर उस रस का फिर वर्णन करना जैसा कि "कुमारसम्भव के चतुर्थसर्ग में प्रथम श्लोक से छब्बीसवें श्लोक तक बार-बार करुण रस उद्दीप्त किया गया है—पुनः पुनर्दीप्ति र्यथाकुमार-संभवे रति विलापे।"

अङ्गी (प्रधान पात्र) का अननुसंधान—अर्थात् अंगी नायक या नायिका का विस्मरण—प्रधान नायक या नायिका को अवान्तर या प्रासंगिक वर्णनों में पूर्णतः

भुला देना भी दोषपूर्ण है। उदाहरण के लिए—रत्नावली नाटिका में बाभ्रव्य का सागरिका को भूल जाना—

रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना—जैसे कर्पूरमञ्जरी में राजा और नायिका ने अपने किये वसन्त वर्णन का अनादर करके बन्दी के वर्णन की प्रशंसा की है—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृत वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम्।

अंगभूत रस का अति विस्तार—काव्य या नाटक में एक मुख्य रस होता है, जिसे अंगी रस कहते हैं और उनके सहायक काव्य रस अंग रस कहलाते हैं। जहाँ अंग अथवा अप्रधान रस वर्णन के उपकरणों का आवश्यकता से अधिक विस्तार से वर्णन किया जाता है वहाँ अंगभूत रस की अतिवृद्धि भी एक रस दोष कहलाया है। जैसे—किरात के आठवें सर्ग में अप्सराओं का विलास—किराते सुराङ्गनाविलासादिः। श्रृंगारस किरातार्जुनीयम् का अंगीरस नहीं है, अतः यह वर्णन दोषपूर्ण है।

प्रकृति विपर्यय—जो जैसी प्रकृति है उसके स्वरूप के अनुरूप वर्णन न होने से प्रकृतिविपर्यय दोष होता है। प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं, दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। इनके धीरोदात्तादि भेद होते हैं। उनमें भी उत्तमत्व अधमत्व और मध्यमत्व होता है। इनमें से जो जैसी प्रकृति है, उसके स्वरूप के अनुरूप वर्णन न होने से प्रकृतिविपर्यय दोष होता है। जैसे—"धीरोदात्त नायक श्री रामचन्द्रजी का धीरोद्धत की भाँति कपट से बाली का वध करना। अथवा 'कुमारसंभव' में उत्तम देवता श्री पार्वती और महादेव का संभोग श्रृंगार वर्णना करना।" इस विषय में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि "माता पिता के संभोग वर्णन के समान यह वर्णन अत्यन्त अनुचित है"—

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना बालिवधः। यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयो संभोगश्रृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः।

इसके अतिरिक्त देश, काल आदि के विरुद्ध वर्णन की भी अनौचित्य के अन्तर्गत समझना चाहिए।

उत्तम काव्य के सृष्टा को इन रस दोषों से बचकर काव्य का सृजन करना चाहिए।

प्रश्न ८८—क्या रस दोषों का परिहार किया जा सकता है? आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उन कारणों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—रस दोष कभी-कभी दोष न होकर गुण हो जाते हैं। कभी दोष नहीं रहते हैं। व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष है किन्तु कभी-कभी यह स्वशब्दवाच्यत्व दोष नहीं होता है—

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ।।

अर्थात् "कहीं व्यभिचारी भाव का स्वशब्द से कथन करना दोष नहीं माना जाता, किन्तु यह बात वहीं होती है, जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा रचना करना उचित न हो ।" जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा प्रतिपादन करने से उस भाव की स्पष्टतया प्रतीति नहीं हो सकती, और जहाँ विभाव, अनुभाव के द्वारा की गई पुष्टि का न होना ही उचित है, वहाँ व्यभिचारी भाव को उसी के वाचक शब्द से प्रतिपादन करना दोषाधायक नहीं होता । जैसे—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसताश्लिष्टा शिवायास्तु वः ।।

इस श्लोक में शिव एवं पार्वती के प्रथम समागम की उत्सुकता, लज्जा; भय, रोमाञ्च आदि से युक्त पार्वती से कल्याण की कामना की गई है। अतः इसमें 'औत्सुक्य' संचारी भाव का उल्लेख है, अतः यहाँ स्वशब्दवाच्यत्व दोष होना चाहिए; किन्तु 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव का कोई ऐसा असाधारण अनुभाव नहीं, जो असन्दिग्ध रूप से औत्सुक्य की प्रतीति करा सके । जो 'त्वरा' आदि उसके अनुभाव हैं वे असाधारण नहीं, क्योंकि वे 'भय' आदि के भी व्यंजक होते हैं, अतः 'औत्सुक्य' का स्वशब्दोपादान दोष नहीं माना जाता; क्योंकि वह आस्वाद विघातक नहीं होता—

"अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारुपानुभावमुखेन प्रतिपादने न झटिति प्रतीतिः । त्वराया भयादिनापि संभवात् । ह्रियोऽनुभावस्य च व्यावर्तनस्य कोपादिनापिसंभवात् । साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृत रस प्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दभिधानमेव न्याय्यम् ।"

प्रतिकूल विभावादि के परिहार का निरूपण :

कहीं-कहीं प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण भी निर्दोष नहीं होता है—विरुद्ध रस के संचारी आदि भावों का यदि बाध्य रूप से कथन किया जाय अर्थात् कहकर फिर उन्हें प्रकृत रस के किसी भाव से दबा दिया जाय तो वह कथन दोष नहीं, गुण होता है । जैसे—

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः ।

क्वाकार्यं, शश लक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्यते सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किंवक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सादुर्लभा,
चेता स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधर पास्यति ।

इस उदाहरण में "वितर्क, मति, शङ्का और धृति ये सब यद्यपि प्रशम के अंग हैं—शृंगार रस के विरोधी शान्त रस के पोषक हैं, तथापि यहाँ उनके आगे आये हुए अभिलाष के अङ्गभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता नामक भावों से उनका तिरस्कार (अभिभव) होता है। अर्थात् वे इनसे दब जाते हैं और अन्त में चिन्ता ही प्रधान रहती है, अतः विप्रलम्भ शृंगार रस पुष्ट होता है।"

रस विरोध परिहार के अन्य उपाय—

यदि विरोधी रस या भाव स्मरण किया गया हो, अथवा समानता से कहा गया हो, अथवा किसी प्रधान (अङ्गी) रसादि में दो विरोधियों को अङ्ग बना दिया गया हो, इन परिस्थितियों में परस्पर विरोध दोषाधायक नहीं होता है—

विरोधिनोऽपि स्मरणे, साम्येन वचनेऽपि वा।
भवेद्विरोधी नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः॥

क्रमशः उदाहरण—

विरोधी रस का प्रधान रस के साथ स्मरण—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवी विस्रंसनः करः॥

अर्थात्—जीवन काल में सम्भोग अवस्था में रसना को हटाने वाला, मेरे बड़े-बड़े स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, उरु, जघनस्थल को छूने वाला तथा नाड़े को खोलने वाला वही यह मेरे पति का हाथ है।

यहाँ आलम्बन (नायक) का मरण विच्छेद हो जाने के कारण तद्विषयक रति रस रूप नहीं हो सकती, अतः स्मर्यमाण रति के जो अंग हैं, उनसे शोक ही उद्दीपित होता है, इसलिए वे करुण रस के ही अनुकूल पड़ते हैं। यहाँ शृंगार स्मर्यमाण है, अतः प्रकृत करुण रस के साथ उसका विरोध नहीं है।

साम्य विवक्षा में विरोधी रसों का अवरोध—

सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनित पृथूरुपीठया।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेवभेजिरे॥

अर्थात् "जो राग-क्रोध या अनुराग से उत्पन्न नेत्रादि की लाली से युक्त है और (क्रोध पक्ष में) जिसके कारण पसीना छूट रहा है या जिसकी देह से पसीना निकल रहा है। करतल के आघात से पृथु उरु स्थल को जिसके कारण या जिसने ध्वनित किया है एवं जिसके कारण अथवा जिसके दाँतों से ओंठ दबाये हैं ऐसी रुष (क्रोध) से राजा लोग इस प्रकार आक्रान्त हुए हैं जैसे—अति प्रौढ़ कामातुर प्रियतमा से होते हैं। क्रोध और नायिका दोनों पक्ष में उक्त विशेषण श्लिष्ट है। पसीना आदि क्रोध से ही उत्पन्न होते हैं और नायिका के देह में ये ही सात्विक विकार रूप होते हैं।"

"यहाँ वीर रस का संचारी क्रोध वर्णनीय है परन्तु वीर का विरोधी शृंगार

साम्य से विवक्षित है। राग, प्रस्वेद, उरुताडन, ओष्ठ निष्पीडन आदि जो क्रोध के अनुभाव (कार्य) हैं वे ही श्रृंगार के भी अनुभाव हैं।"

अनुभावों के साम्य से श्रृंगार विवक्षित है, अतः दोष नहीं है।

दो विरोधी रस प्रधान रस के अंगी को अंग भाव से प्राप्त हो जाते हैं, वे भी परस्पर विरोधी नहीं रहते हैं—

एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः
पार्वत्यां वदनाम्बुजस्तनभरे संभोगभावालसम्।
अन्यद् दूर विकृष्ट चापमदन क्रोधानलोद्दीपितं
शंभोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः॥

"ध्यान करने के लिए बन्द कर लेने से एक नेत्र प्रायः मुकुलित (बन्द कली के सदृश्य) और दूसरा पूजन करने को आई हुई पार्वती के मुख कमल और स्तनों पर संलग्न (संभोग श्रृंगार के भाव से मन्द-मन्द निपतित) एवं तीसरा नेत्र धनुष चढ़ाये हुए कामदेव के ऊपर क्रोधानल से उद्दीप्त इस प्रकार समाधि के समय भिन्न-भिन्न रसों (शान्त, श्रृंगार, और रौद्र) में निमग्न शंकर के तीनों नेत्र तुम्हारी रक्षा करें।"

इस उदाहरण में शान्त, श्रृंगार और रौद्र तीनों रस परस्पर विरुद्ध हैं, किन्तु ये सभी यहाँ प्रधानभूत शंकर विषयक रति भाव के अंग हैं अतः दोष नहीं है।

आचार्य मम्मट ने रस दोष के परिहार के कुछ उपायों का निर्देश किया है— "जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी हैं, उसको भिन्न आश्रय में वर्णित कर देना चाहिए तथा जो नैरन्तर्य के कारण विरुद्ध है उसको अन्य अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहिए। ऐसा होने पर रस विरोध का परिहार हो जाता है—

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः सकार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥

आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रसंग में मम्मट का अनुकरण करते हुए सम्पूर्ण विवेचन किया है।

———

अष्टम परिच्छेद

गुण-विवेचन

१. काव्य में गुण तत्व
२. गुण और रस
३. गुणत्रय का सोदाहरण विवेचन
४. वामनोक्त गुणों का गुणत्रय में अन्तर्भाव

प्रश्न ८९—आचार्य विश्वनाथ के अनुसार गुण के स्वरूप का विवेचन करते हुए, माधुर्यादि तीन गुणों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—गुण काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता के विचार प्रसंग में काव्य शरीर के रूपक की चर्चा चिरकालीन है। तदनुसार "शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्व है, माधुर्यादि गुणशौर्यादि की भाँति रस रूप आत्मतत्व से अपृथक सिद्ध धर्म हैं श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व आदि की भाँति रस रूप आत्मतत्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर संस्थान (अंग रचना) के समान काव्य संस्थान है और उपमादि अलंकार कटक-कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्धक हैं—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा गुणाः शौर्यादिवत्. दोषः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव-संस्थानविशेषवत् अलंकारा कटक कुण्डलादिवत् इति।" इस रूपक में गुणों को काव्य का आवश्यक तत्व स्वीकार किया गया है। गुणों के अभाव में काव्य शरीर का महत्व नहीं के बराबर हो जाएगा।

आचार्य मम्मट ने गुणों का सम्बन्ध रस के साथ सिद्ध किया है, उनका कहना है कि "शरीर स्थित आत्मा के शौर्य आदि धर्म जिस प्रकार आत्मा के साथ एकाकार होकर शाश्वत रहते हैं तथा आत्मा के शोभावर्द्धक होते हैं उसी प्रकार काव्य के माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण रस के साथ नित्य सम्बद्ध होकर काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं।

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचल स्थितयो गुणाः॥ (का० प्र० ८/६६)

इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार रसोत्कर्ष तथा रसनिष्ठत्व गुणों का धर्म है। रस काव्य का आत्मतत्व है, आत्मतत्व का गौरव प्रदान करने के कारण इनका महत्व स्वयं सिद्ध है।

गुणों की रसधर्मता आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार की थी, और मम्मट ने उसका समारम्भ के साथ प्रतिपादन किया है। मम्मट का मत है कि "माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं वर्णों के नहीं, किन्तु वे सार्थक वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं। शौर्यादि गुण भी आत्मा के ही धर्म हैं न कि शरीर के—"आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्।—माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैं व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।"

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह है कि मम्मट की सम्पूर्ण विचारधारा को विश्वनाथ ने पूर्णतः स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने लिखा है—रसस्याङ्गित्व-माप्तस्य धर्माः शौर्यादयः यथा। गुणाः। अर्थात् शरीर में आत्मा के समान काव्य में अङ्गित्व-प्राधान्य को प्राप्त जो रस है गुण उसके धर्म हैं। जैसे आत्मा के शौर्य को गुण कहा जाता है। "जैसे देह में अङ्गित्व (प्रधानता) को प्राप्त आत्मा की उत्कृष्टता के निमित्त होने से शौर्यादि को गुण कहते हैं इसी प्रकार काव्य में प्रधानभूत रस के धर्म अर्थात् उसके स्वरूप विशेष माधुर्यादिक भी अपने समर्थक (व्यंजक) पद समुदाय में काव्यत्व व्यवहार (व्यपदेश) के उपयोगी आनुगुण्य को सिद्ध करते हैं—तात्पर्य यह है कि जो समुदाय गुणों का व्यंजक होता है वह काव्य कहाता है, क्योंकि गुण रस के ही धर्म होते हैं, अतः जहाँ गुण हैं वहाँ रस भी अवश्य रहेगा और रसयुक्त वाक्य को ही काव्य कहते हैं—यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुण-शब्दवाच्याः तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपद-संदर्भस्य काव्य व्यपदेशस्यौपथिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः। यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथादर्शितमेव।

गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद—"माधुर्यमोजोऽथप्रसाद इति ते त्रिधा।"

माधुर्यम्—भरत मुनि के अनुसार काव्य का सौन्दर्य श्रुतिमधुरता में है। दण्डी रसमयता को ही माधुर्य कहते हैं। वामन के मत में माधुर्य से अभिप्रायः समास राहित्य तथा उक्ति वैचित्र्य है। "मम्मट के अनुसार हृदय को भावविभोर करने की विशेषता माधुर्य गुण में है। इस प्रकार माधुर्य का अर्थ हुआ क्षुतिसुखदता, समास-राहित्य, उक्ति वैचित्र्य, आर्द्रता चित्त को द्रवित करने की विशेषता, भावमयता, आल्हादकता।"

लक्षण--जिसमें अन्तःकरण द्रुत हो जाय, ऐसा आनन्द विशेष माधुर्य कहलाता है—

चित्तद्रवीभावमयो ल्हादो माधुर्यमुच्यते।

प्रेम या करुण प्रसंगों में चित्त विगलित हो उठता है, चित्त का शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाना माधुर्य का कारण है। माधुर्य गुण संभोग शृंगार की अपेक्षा करुण रस में, करुण रस की अपेक्षा वियोग में, वियोग-शृंगार की अपेक्षा शान्त रस में क्रमशः अधिकाधिक होता है—

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।

माधुर्य गुण के काव्य में निम्न वर्णों का प्रयोग होता है जो कि मधुरता-व्यंजक होते हैं—इसमें ट वर्ग, लम्बे-लम्बे समास और कठोर वर्णों का प्रयोग वर्जित है। मधुर वर्ण, सानुनासिक वर्ण (ञ्, म्, ङ्, ण्, न्) तथा कोमल वर्णों का ही प्रयोग होता है। इसमें समास रहित अथवा अल्प समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यजक होती है—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद् व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।

उदाहरण—अनङ्ग मङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्ताप सन्ततिम्॥

अर्थ—"उस रमणी के अपांगों की भंगियाँ (कटाक्ष) अनंग की मंगलमय जन्मभूमि सी हैं और निरन्तर युवक प्रेमियों के अन्तस्तल में संताप परम्परा उत्पन्न किया करती हैं।"

इस उदाहरण में ङ्ग और ग प्रथम दो चरणों में तथा न और त (शेष दो चरणों में) के संयोग में माधुर्य की अभिव्यक्ति हो रही है। रचना में लघु समास भी है, जोकि माधुर्य के व्यंजक हैं।

अन्य उदाहरण—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि॥

"गुंजार करते मतवाले भौरों से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बनाते, अंग अंग का आलिङ्गन करते हुए अनङ्ग को प्रबल बनाते हुए, मन्द-मन्द गति से, खिले कमल को कम्पित करते और फलों के पराग को धारण किये मलयानिल के भौंरे चारों दिशाओं में मकरन्द विकीर्ण कर रहे हैं।"

इसमें ञ, ज और ङ् तथा न और द के संयोग से माधुर्य अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही साथ अल्प समासवती रचना इस माधुर्य को और भी मधुर बना रही है।

ओज—ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥

" 'ओज' वह गुण है, जिसमें चित्त का विस्तार स्वरूप उद्दीप्त हो उठता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है।

चित्त की विशिष्ट वृत्ति का नाम दीप्ति है। इस दीप्ति का हेतु तथा रस का जो धर्म है, उसका नाम ओज है। वीर की अपेक्षा बीभत्स तथा रौद्र में ओज की अधिकता होती है क्योंकि 'वीर' में तो द्वेष्य के प्रति जीतने की इच्छा मात्र होती है, बीभत्स में प्रबल त्याग की इच्छा होती है, तथा रौद्र में अपकारी के वध की ही इच्छा होने लगती है। इस प्रकार क्रमशः चित्त की दीप्ति अथवा प्रज्वलन अधिक ही होता जाता है इसलिए उत्तरोत्तर ओज की अधिकता मानी जाती है।"

(i) ओज गुण के काव्य में क वर्ग आदि के प्रथम वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ संयोग रहता है तथा द्वितीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण के साथ। जैसे—कच्छ, पुच्छ, दग्ध आदि। (ii) 'र' वर्ण से युक्त वर्णों की अधिकता रहती है, जैसे—वक्र, नक्र आदि (iii) तुल्य वर्णों का योग, जैसे—उच्च, वित्त आदि। (iv) ट, ठ, ड तथा ढ आदि वर्णों का प्राधान्य रहता है। (v) श, ष आदि वर्ण तथा (vi) लम्बे समास, संयुक्त वर्ण एवं पद तथा कठोर वर्णों की रचना का ओज गुण में बाहुल्य होता है—

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठ डढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंञ्जकतां गताः।
तथा समास बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।

जैसे—**चञ्चद् भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात**
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

"हे देवि! (द्रौपदि!) चञ्चल भुजाओं से घुमाई गयी भीषण गदा के प्रहार से जिसकी दोनों जांघें चूर चूर (चकनाचूर) हो गई हैं, ऐसे दुर्योधन के जमे, लिपे गाढ़े-रक्त से लाल हाथों वाला यह भीम तुम्हारे केशों को अलंकृत करेगा-बाँधेगा।"

इस श्लोक में उपर्युक्त ओज गुण गत समस्त विशेषतायें परिलक्षित हो रही हैं—इसमें संयुक्ताक्षर है, लम्बे-लम्बे समास, कठोर वर्ण आदि सभी हैं। अतः इसमें ओज गुण विद्यमान है।

प्रसाद गुण—'प्रसाद' शब्द का अर्थ है प्रसन्नता या खिल जाना। अतः जिस रचना को पढ़कर मन प्रसन्न हो जाय, हृदय की कली खिल उठे, वहाँ प्रसाद गुण होता है। इस गुण की विशेषता है। सहजग्राह्यता—

चित्त व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥

अर्थात् "जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तुरन्त व्याप्त होती है इसी प्रकार

जो गुण चित्त में तुरन्त व्याप्त हो उसे 'प्रसाद' कहते हैं। यह गुण समस्त रसों और सम्पूर्ण रचनाओं में रह सकता है।"

'प्रसाद' गुण की रचना के श्रवण मात्र से (शब्द से) अर्थ की प्रतीति हो जाय, ऐसे सरल और सुबोध पद, 'प्रसाद' गुण के व्यंजक होते हैं।

उदाहरण—सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप, लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ।।

"ओ मौक्तिक हार! एक बार ही सुई की नोंक से छेदे जाने पर, तुम तो किसी प्रेमिका के उरोजों पर लोट-पोट करने लगते हो किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि सैकड़ों बार काम के बाणों से मर्माहत होते हुए भी स्वप्न में भी, उसे नहीं देख पाता।"

इस श्लोक को सुनते ही अर्थ बोध हो जाता है, पाठक का चित्त सुनकर प्रसन्नता से भर उठता है।

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि माधुर्यादि गुणों की शब्द तथा अर्थ में स्थिति तो केवल गौण रूप—उपचार से है। आशय यह है कि माधुर्यादि को शब्द का गुण अथवा अर्थ का गुण लक्षणा से कहा जाता है, जिन आचार्यों ने ऐसे प्रयोग किए हैं वह लक्षणा के प्रयोग हैं—"जैसे शौर्य आत्मा का ही धर्म है परन्तु कभी-कभी आकार एवास्य शूरः (इसके आकार में ही वीरभाव है) यह लक्षणा में कहा जाता है। इसी प्रकार रस के धर्म गुणों को भी काव्य के शरीर स्थानीय शब्द और अर्थ में स्थित कहा जाता है—

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्योच्यते बुधैः।
शरीरस्य शौर्यादिगुण योग इव इति शेषः।

प्रश्न ९०—काव्य गुणों का परिचय देते हुए यह बताइये कि वामन निरूपित दस गुणों का विश्वनाथ ने तीन गुणों में किस प्रकार अन्तर्भाव किया है। और क्या वह सार्थक है?

प्रश्न ९१—वामनोक्त दस शब्द एवं दस अर्थ गुणों का तीन गुणों में समाहार करते हुए विश्वनाथ पूर्णतः मम्मटाचार्य से प्रभावित हैं, स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ९२—वामनोक्त दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है उनका माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में समाहार किया जा सकता है।

उत्तर—'गुण' शब्द का अर्थ है—दोषाभाव, विशेषता, आकर्षक तथा शोभाकारी धर्म। भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में गुण काव्य के सौन्दर्य वर्धक तत्व के रूप में मान्य हैं। भरत दोष के विपर्यय को गुण मानते हैं—'एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येष कीर्तिताः' दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभाविधायक धर्म हैं। वामन भी "काव्य-शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।" कहकर दण्डी की भाँति काव्य के शोभाविधायक धर्म

को गुण कहते हैं। आनन्दवर्धन ने अंगीरूप रस के आश्रित धर्म को गुण कहा है। मम्मट भी गुणों को रसाश्रित मानते हुए कहते हैं कि आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी स्थिर धर्म गुण हैं—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।

आचार्य मम्मट गुणों को रस से सम्बद्ध मानते हैं उनका मत है कि—"जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के; उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस रूप आत्मा के धर्म हैं न कि वर्णादि (वर्ण, रचना, वृत्ति) रूप शरीर के—"आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम।" पुनश्च, वे लिखते हैं कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं ये वर्णों पर आश्रित नहीं हैं—"अतएव माधुर्यादियो रस धर्मां समुचितैर्वर्णै व्र्यज्यन्ते, न तु वर्णमात्राश्रयाः।" किन्तु प्रश्न यह है कि जब गुण रस के धर्म हैं तो ये मधुर शब्द हैं अथवा यह मधुर अर्थ ऐसा व्यवहार क्यों होता है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है कि यह व्यवहार गौण-रूप से किया जाता है, मुख्यतः गुण तो रस के धर्म हैं—"गुणवृत्या पुनरतेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।"

आचार्य विश्वनाथ का गुण विषयक सम्पूर्ण विवेचन मम्मट के अनुसार है। विश्वनाथ भी गुणों को रस का धर्म मानते हैं—रसम्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादियो यथा गुणाः। गुण रस के धर्म हैं शब्दार्थ के नहीं। शब्द का गुण या अर्थ का गुण यह प्रयोग औपचारिक है और लक्षणा के रूप में ही इसे लेना चाहिए—एषां गुणशब्दत्वं च गुणवृत्योच्यते बुधैः।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि गुणशब्दार्थ निष्ठ न होकर रसनिष्ठ है—और ये रसाश्रित हैं। "गुण काव्य के उत्कर्षाधायक तत्व हैं जो मुख्यतः रसाश्रित है और गौणरूप में उन्हें शब्दार्थ निष्ठ कहा जा सकता है।

गुणों की संख्या :

गुणों की संख्या कितनी है, इस पर प्राचीन आचार्यों का मतभेद है। अतः संख्या निरन्तर घटती बढ़ती रही है। आचार्य मम्मट ने भामह तथा आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण कर तीन गुणों को मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने वामन द्वारा निरूपित दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों में समाहार किया है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट का पूर्णतः अनुसरण करते हुए केवल तीन गुण माने हैं।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों को स्वीकार किया है। उनके नाम निम्न हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता एवं कान्ति—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्य मोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणादशैते ।।

(ना. शा. १७/६९)

अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थौभयगत गुण माने हैं। इनके मत में गुणों की संख्या उन्नीस है। **दण्डी** भरत के अनुसार गुणों की संख्या मानते हैं। **भोजराज** ने चौबीस और **जयदेव** ने आठ गुण माने हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में गुणों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विवेचन आचार्य वामन ने किया है। वे गुणों को शब्दार्थ का नित्य धर्म मानते हैं। वामन शब्दगत दस तथा अर्थगत दस गुण मानते हैं। इस प्रकार वामन के मत में भी कुल बीस गुण हैं उनके नाम इस प्रकार हैं।

श्लेषः प्रसादः समतामाधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि नामक गुण हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण मानते हैं। आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने उनके विवेचन की पृष्ठभूमि में तीन गुणों के महत्व का प्रतिपादन किया है, यही नहीं, उन्होंने वामन आदि के द्वारा निरूपित गुणों का सयुक्ति खण्ड़न कर माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों की स्थापना समारम्भ के साथ की है—"माधुर्योज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।"

आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट की तरह केवल तीन गुण माने हैं। भरत और दण्डी के बीस गुणों का वामन के बीस गुणों में समाहार हो जाता है। भोज के चौबीस गुण भी प्रायः वही हैं जो वामन के हैं।

विश्वनाथ श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद नामक प्राचीन आचार्यों के गुणों का समाहार ओज गुण में मानते हुए लिखते हैं—

श्लेषः समाधिरौद्रार्य प्रसाद इति ये पुनः ।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।।

यहाँ 'ओज' पद लक्षणा से शब्द के धर्म विशेष को कहता है। ओजः शब्द वाच्य उसी धर्म में उक्त गुणों का अन्तर्भाव समझना चाहिये—ओजसि भक्त्या ओजः शब्दवाच्ये शब्दार्थ धर्म विशेषे।

श्लेष—अनेक पदों का एक पद के समान भाषित होना श्लेष कहलाता है—तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा। जैसे—

उन्मज्जज्जल कुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः ।
सर्वाः पर्वतकंदरोदरभुवः कुर्वन्प्रतिध्वानिनीः ।

उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं।
तथा प्रायप्रेङ्खदसंख्यशंखधवला वेलेयमुद्गच्छति ॥

इस उदाहरण में प्रलयकाल के समुद्र का वर्णन है। इस पद्य की रचना विकट है और बन्ध की विकटता ओज ही है, अतः श्लेष गुण ओज से अलग नहीं है।

दूसरा शब्द गुण 'समाधि' है, आरोह और अवरोह के क्रम को 'समाधि' कहते हैं—समाधि रारोहावरोहक्रमः। आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः। जैसे—

चञ्चद् भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
संञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

इस पद्य के तीन चरणों में रचना क्रम से चढ़ती गई है और चौथे चरण में उतरी है फिर भी तीव्र प्रयत्न से उच्चार्य होने के कारण अर्थात् महाप्राण प्रयत्न के अक्षरों से युक्त और कुछ भीमसेन के सवेग उच्चारण होने के कारण ओज के ही अनुरूप हैं, अतः समाधि को भी ओज के ही अन्तर्गत समझना चाहिए।

उदारता (औदार्य) विकटत्व का नाम है और विकटर्ती पदों की नाचती हुई सी दशा को कहते हैं, जहाँ पद नाचते से हों—वहाँ उदारता गुण होता है उदारता विकटत्वलक्षणा। विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्। यथाः—

सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां।
झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च॥

इस पद्य में वामन आदि प्राचीन आचार्यों के मत से रसानुसंधान के बिना ही शब्दों की प्रौढि मात्र से ओज की प्रतीति होती है।

प्रसाद—ओज से मिले हुए शैथिल्य को प्रसाद गुण कहते हैं प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यातमा। जैसे—

यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्।

इन तीनों गुणों का समावेश विश्वनाथ के अनुसार ओज गुण में होता है। क्योंकि—चित्त का विस्तारस्वरूप दीप्तत्व ओज कहलाता है। उपर्युक्त—श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद नामक गुणों में ओज का ही आधिक्य है।

प्राचीन आचार्यों ने माधुर्य नामक एक गुण माना है उसका लक्षण है:—'पृथकपदत्व'—अलग-अलग (समासरहित) पदों का होना माधुर्य गुण है, यह माधुर्य पहले 'समास के अभाव' को माधुर्य गुण का व्यंजक बताया है, उसी के समान है—

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्।
पृथकपदत्वं माधुर्यं तनैवाङ्गीकृतं पुनः॥

जैसे— श्वासान्मुञ्चति, भूतले विलुठति, त्वन्मार्ग मालोकते,
दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम् ।
किं च, प्राणसमान, काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते संगमं ।
निन्द्रा वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धोविधिस्तामपि ।।

इस श्लोक का प्रत्येक पद अलग-अलग है, उसमें समास का सर्वथा अभाव है, अतः इसमें माधुर्य गुण है ।

अर्थव्यक्ति—पदों का झट अर्थ को व्यक्त करना 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण है, यह अर्थव्यक्ति 'प्रसाद' गुण के अन्तर्गत समाहित होता है क्योंकि प्रसाद गुण में तुरन्त अर्थ की प्रतीति होती है, अतः दोनों समान हैं और इसे अलग गुण मानने की आवश्यकता नहीं है—

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्य गुणेनैव परिग्रहः ।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ।।

ग्राम्यत्व दोष के परित्याग से कान्ति शब्द गुण और दुःश्रवत्व नामक दोष के परित्याग से 'सुकुमारता' नामक शब्द गुण प्राचीनों के अनुसार होता है—

ग्राम्यदुः श्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ।

'कातर्थि' आदि कठोर पद तथा 'कटि' आदि ग्राम्य पदों के प्रयोग न होने पर ये—कान्ति और सुकुमारता नामक गुण स्वतः उत्पन्न होते हैं। अतः ये दोषों के अभाव मात्र हैं। इसी प्रकार मार्गाभेद रूप समता कहीं दोष है और कहीं गुण है—क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी ।

जहाँ दोष नहीं है वहाँ प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण में उसका अन्तर्भाव हो जाता है। कोमल अथवा तीव्र रचना से प्रारम्भ किये हुए प्रकरण को उसी रूप में समाप्त करना मार्गाभेद कहाता है। वह कहीं दोष होता है—जैसे—

अव्यूढांगमरूढप्राणिजठराभोगं च विभ्रद्वपुः
पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके समातु किं तावता ।
उद्यद् दुर्धरगन्धसिन्धुरशत प्रोद्दाममदानार्णव
स्रोतः शोषणरोषणासुनरितः कल्पान्तग्निरिल्पायते ।।

इस पद्य के पूर्वार्ध की रचना कोमल है किन्तु उत्तरार्ध में कठोर है। उत्तरार्ध में उद्धत अर्थ वाच्य है, अतः सुकुकार रचना का त्याग करना गुण ही है। और जहाँ इस प्रकार का स्थल नहीं है—जहाँ मार्ग का भेद करना आवश्यक नहीं है—वहाँ इस समता का माधुर्यादि गुणों में ही अन्तर्भाव होता है। सुकुमार बन्ध होने पर माधुर्य गुण में और विकट बन्ध होने पर ओज गुण में अन्तर्भाव करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वामन के दस शब्द गुणों में से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्योज और प्रसाद गुण में हो जाता है तथा कुछ दोष त्यागने पर गुण कहलाते हैं अतः शब्द गुण केवल तीन हैं—**एव न दश शब्द गुणाः ।**

अर्थगुण—वामन के द्वारा निरूपित दस अर्थ गुण में से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण में होता है और कुछ दोषमात्र है और कुछ दोषाभाव मात्र। अतः अर्थगत गुणों का विशेष महत्व नहीं है।

ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और उदारता का अभाव दोष के अन्तर्गत है और तभी वे अर्थगत गुण हैं—

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः॥

मम्मट आदि आचार्यों ने इन तत्वों के अभाव को दोष माना है—"पदों का साभिप्राय होना किसी विशेष भाव का सूचक ओज कहलाता है—ओजः साभिप्रायत्वम्। 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष के परित्याग से इसका ग्रहण होता है। बिना प्रयोजन के कोई पद रखने से 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष होता है। जब इस दोष का परित्याग किया जायगा तो पदों की साभिप्रायता अपने आप आ जाएगी, अतः 'ओज' नामक गुण मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अर्थ की विमलता को 'प्रसाद' कहते हैं—"प्रसादोऽर्थ वैमल्यम्" अधिकपदता दोष के परित्याग से इसका ग्रहण होता है। उक्ति की विचित्रता कथन की अपूर्वता को माधुर्य कहते हैं—'माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्'। यह 'अनवीकृतत्व' दोष के परित्याग से ग्रहण होता है। इस दोष के परित्याग करने से उक्तिवैचित्र्य स्वतः आ जाता है। कठोरता न होने को 'सौकुमार्य' कहते हैं—'सौकुमार्यमपारुषम्'। यह सुकुमारता अमंगलव्यञ्जक अश्लील अर्थ में कठोरता रहती है, उसको त्यागने पर कठोरता का निवारण होता है तथा सुकुमारता आ जाती है। अग्राम्यत्व उदारता है—उदारता अग्राम्यत्वम्। ग्राम्यत्व त्यागने पर उदारता, गुण आता है। उपर्युक्त अर्थ गुणों का क्रमशः अपुष्टार्थ, अधिक पदत्व, अनवीकृत, अमंगल रूप अश्लील ग्राम्यत्व आदि दोषों का निराकरण करने पर ग्रहण होता है। अतः ये गुण नहीं हैं।

प्राचीन आचार्य वस्तु के स्वभाव की स्फुटता को 'अर्थव्यक्ति' नामक अलङ्कार मानते हैं, यह स्वभावोक्ति अलङ्कार है। रस की 'प्रदीप्तता' को 'कान्ति' गुण कहते हैं किन्तु 'कान्ति' रसध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत है—

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालकारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यंग्यानां कान्तिनामकः॥

'श्लेष' नामक अर्थगुण केवल 'विचित्रता' है—रस का विशिष्ट उपकारक न होने से इसे गुण नहीं कह सकते, समता केवल दोषाभाव रूप है अतः यह भी पृथक गुण नहीं है—

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम्।

वामन 'श्लेष' नामक अर्थगुण का लक्षण 'घटनाश्लेष' मानते हैं, क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्ति इनके मिश्रण की रचना को 'श्लेष' कहते हैं वह वैचित्र्य

मात्र है—श्लेषः क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूप घटनात्मा। तत्र क्रमः क्रिया संततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णन विरहोऽनुल्बणत्वम्, उपपादक युक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः संमेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम्। अर्थात् "क्रम, कौटिल्य-अनुल्बणत्व और उपपत्ति इनके सम्मेलन स्वरूप रचना को 'श्लेष' कहते हैं। इनमें से क्रियाओं की परम्परा को क्रम कहते हैं। चतुर चेष्टाओं का नाम कौटिल्य है। अप्रसिद्ध वर्णन का न रखना अनुल्बणत्व कहाता है। काम को सिद्ध करने वाली युक्तियों का नाम उपपत्ति है, इन सबका मेल जिसमें हो वह रचना श्लेष कहाती है। सो यह श्लेष वैचित्र्यमात्र है।"

इस श्लेष में "रस का असाधारण उपकारकत्व नहीं है और यही एक अतिशय (असाधारण धर्म) गुणत्व का प्रयोजक होता है। जो रस का असाधारण उपकारक होता है, वही गुण माना जाता है, वह बात इस श्लेष में है नहीं, अतः श्लेष गुण नहीं हो सकता है"—"अनन्यसाधारणसोपकारित्वातिशय विरहादितिभावः।"

उदाहरण के लिए—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बतिः॥

इस श्लोक में "दर्शन आदि क्रियायें हैं। दोनों स्त्रियों को प्रसन्न करना कौटिल्य है। लोक व्यवहार का ही कथन करना 'अनुल्बणत्व' है। एक आसन बैठा होना, (दोनों स्त्रियों का) पीछे आना (नायक का), नेत्रमूंदना, थोड़ा कन्धा घुमाना आदि क्रियायें उपपादक (साधक) हैं। इन सबका यहाँ योग है। इस श्लेष द्वारा वाच्य अर्थ के ग्रहण में ही बुद्धि व्यग्र रहती है, रसास्वाद प्रायः व्यवहित हो जाता है, अतः इसे गुण नहीं मानते।"

अत्र दर्शनादयः क्रियाः उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोक संव्यवहार-रुपमनुलबणत्वम्, 'एकासनसंस्थिते' पश्चादुपेत्य' 'नयने पिधाय' ईषद्वक्रितकंधरः, इति चोपपादकानि, एषां योगः। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसास्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता।

'अवैषम्यं समता' अवैषम्यरूप समता दोष है। समता दोष मात्र है गुण नहीं। "प्रारम्भ किये हुए प्रकृति प्रत्यय आदि में परिवर्तन के परित्याग को 'समता' कहते हैं। यदि प्रक्रान्त प्रकृति, प्रत्यय, आदि में विपर्यास कर दिया जाय तो भिन्न शब्द के द्वारा बोधित होने के कारण वही अर्थ कुछ भिन्न सा प्रतीत होने लगता है, अतएव उसमें विसंवादिता (भिन्नता) सी आ जाती है और यदि प्रकृति प्रत्यय आदि न बदले जायँ तो इस 'अविपर्यास के कारण अर्थ की विसंवादिता का विच्छेद होता है।" —यह 'भग्नप्रक्रम' नामक दोष का अभाव है—सच प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव।

'समाधि' भी गुण नहीं है—'न गुणत्व समाधेश्च ।' समाधि दो प्रकार की है—एक 'अयोनि'—जिसमें अर्थ की पूर्णतः नूतन कल्पना की जाती है दूसरी जिस अर्थ में दूसरे अर्थ की छाया हो ।

अयोनि का उदाहरण—'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिवुक प्रस्पर्द्धिनारङ्गकम्' "किसी ने नारङ्गी को देखकर कहा कि हाल के मुंडे हुए गोरे की ठोड़ी के समान लाल लाल नारंगी हैं ।"

अन्यच्छायायोनि अर्थ का उदाहरण--

निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिताकापि ।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी ।।

"कोई मालिन पानी में अपने नेत्रों की छाया से बहुत धोखा खा चुकी है । खिला कमल समझ कर उसे तोड़ने के लिए हाथ चलाया पर पीछे देखा तो कुछ नहीं, तब पता चला कि अपने नेत्रों की छाया को ही कमल समझ कर तोड़ने चली थी, अतः अब वस्तुतः खिले कमल के ऊपर हाथ डालने में भी ठिठकती है ।" इस पद्य में नीलकमल और नेत्र के प्रसिद्ध साम्य को विशेष चमत्कार बनाया है । यह 'समाधि' असाधारण शोभा की आधायक नहीं अतएव गुण भी नहीं है । साथ ही काव्य के शरीरभूत अर्थ मात्र की साधक होती है—"अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं शाद्दश्यं विच्छिन्ति विशेषण निबद्धम् अस्य आसाधारण शोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम्, किन्तु काव्य शरीर मात्र निर्वर्तकत्वम् ।"

इसी प्रकार अन्य अनेक वैचित्र्यपूर्ण वाक्य हो सकते हैं । कहीं समास और कहीं व्यास शैली में भी चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है किन्तु ये वैचित्र्य गुण नहीं हैं, क्योंकि रस का ये उपकार नहीं करती हैं, "तेन नार्थगुणाः पृथक" । इसलिए अर्थगुणों को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । अतः गुण केवल तीन—माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक हैं । इन्हीं तीन गुणों में कुछ का अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ दोष भाव रूप हैं और कुछ गुण न होकर दोष मात्र हैं, अतः गुण दस नहीं हैं, केवल तीन हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोष त्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।

(मम्मट : काव्यप्रकाश)

———

नवम परिच्छेद

रीति विवेचन

१. रीति शब्द की व्याख्या
२. रीतियों का सोदाहरण विवेचन

प्रश्न ९३—रीति शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ निरूपित रीति तत्व का विवेचन कीजिए?।

उत्तर—रीति शब्द नानार्थक है, भामह रीति शब्द के पर्याय के रूप में 'काव्य' दण्डी और भोज 'मार्ग', वामन 'रीति', आनन्दवर्धन 'पदसंघटना', रुद्रट और मम्मट वृत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं।

रीति शब्द रीङ् गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। रीति शब्द के अर्थ—ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली हैं। रीति शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है—"रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दः मार्गपर्यायः।" इस व्युत्पत्ति से भी रीति शब्द 'मार्ग' का पर्याय है। भोज ने भी रीति शब्द का अर्थ मार्ग माना है—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अन्य आचार्य रीति शब्द से गुणाभिव्यंजक वर्गों की योजना का अर्थग्रहण करते हुए इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं—रीयते माधुर्यादिगुणानां विशेषो ज्ञायतेऽनयेति रीतिरितिः व्युत्पत्तेः।

आचार्य विश्वनाथ भी रीति शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं—"पदों के मेल या संगठन का नाम रीति है। वह अंग संस्थान की तरह मानी जाती है। वह काव्य के आत्मभूत तत्व रस भाव आदि की उपकारक होती है—

पदसंघटना रीतिरङ्ग संस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां.......................... ॥

इस प्रकार कह सकते हैं कि पदों की विशिष्ट पद रचना रीति है। यह रीति

काव्य में शरीर के समान है। जिस प्रकार मानव शरीर का गठन होता है, उसी प्रकार काव्य के शरीर रूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीर रचना देखने में माधुर्य, सौकुमार्य आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है और उससे उस शरीरधारी के गुणों का ज्ञान होता है, इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्यादि गुणों के व्यंजन के द्वारा रस भाव आदि का उत्कर्ष होता है।

रीति चार प्रकार की है—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी।

सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चालीलाटिका तथा।

वैदर्भी—माधुर्य व्यंजन वर्णों के द्वारा रचित समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं—

माधुर्य व्यंजकैर्वर्णे रचना ललितात्मका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

आशय यह है कि वैदर्भी रीति की रचना माधुर्य व्यंजक वर्णों से होती है, वर्णों में ट, ठ, ड, ढ, इन वर्णों को छोड़कर जो वर्ण आदि में अपने वर्ग के अन्तिम अक्षर ञ, म, ङ, न से युक्त हों वे और ह्रस्वस्वर से युक्त 'र' और 'ण' माधुर्य के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार समास रहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है। उदाहरण के लिए—

अनङ्गमङ्गल भुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्ताप सन्ततिम्॥

इस श्लोक में ङ और ग का संयोग पूर्वार्धम में है और उत्तरार्द्ध में 'न' तथा 'त' का संयोग माधुर्य व्यंजक है।

इसी प्रकार का आचार्य विश्वनाथ द्वारा रचित एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

लताकुञ्जं गुञ्जन मदवलिपुञ्जं चपलयन्।
समालिङ्गन्नगं द्रुततरंमनंग प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरन्विदं तरलयन्।
रजोवृन्दं विन्दन किरति मकरन्द दिशिदिशि॥

वैदर्भी रीति के समस्त लक्षण इस श्लोक पर घटिक होते हैं। इस श्लोक में माधुर्य व्यंजक ञ, न आदि वर्णों के साथ चवर्ग का 'ज' तवर्ग के 'त' और द वर्ग हैं, समस्त वर्ग माधुर्य व्यंजक हैं। प्रायः समस्त वर्ग ह्रस्व स्वरयुक्त हैं। समास रहित रचना है अतः यहाँ वैदर्भी रीति है।

रुद्रट ने वैदर्भी का लक्षण इस प्रकार किया है—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥

अर्थात् "समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त श्लेषादि दस गुणों से युक्त एवं चवर्ग से अधिकतया युक्त अल्पप्राण अक्षरों से व्याप्त सुन्दर वृत्ति वैदर्भी कहलाती है।"

गौडी—ओज को व्यक्त करने वाले कठिन वर्णों से निर्मित अधिक समासों से युक्त शब्दाडम्बरों से युक्त बन्ध को गौडी रीति कहते हैं—

ओजः प्रकाशकैवर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समास बहुला गौडी

आचार्य पुरुषात्तम ने गौडी का लक्षण स्वरूप इन शब्दों में व्यक्त किया है—"बहुत से समासों से व्याप्त बड़े-बड़े महाप्राण प्रयत्न वाले अक्षरों से युक्त अनुप्रास, यमक आदि शब्द महिमा के रक्षण में व्यग्र अर्थात् अधिकतर अनुप्रासादि से युक्त और थोड़े वाक्यों वाली रीति को गौडी कहते हैं।" इस प्रकार कठोर वर्णों वाली तथा विकट बन्धवाली ओजपूर्ण रचना गौडी रीति कहलाती है। इस रीति में प्रयुक्त वर्ग निम्न होते हैं "वर्गों के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर क्ख, च्छ इत्यादि और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर—ग्घ, ज्झ इत्यादि ऊपर या नीचे अथवा दोनों जगह रेफ से युक्त अक्षर—धर्म, आम्र, श्रीमृ दिम्ना आदि और ट, ठ, ड, ढ, ष, श, ये सब अक्षर ओज के व्यंजक होता हैं।

उदाहरण—

चञ्चद भुजभ्रमितचण्डगदावघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध धन शोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कंचास्तव देवि भीमः। (वेणीसंहार १/२०)

यह श्लोक ओज गुण सम्पन्न, संयुक्ताक्षरों से पूर्ण तथा अन्य गौडीवृत्ति की विशेषताओं तथा वर्गों से युक्त है। अतः इस श्लोक में गौडीरीति स्पष्ट है।

पाञ्चाली—वैदर्भी एवं गौड़ी रीतियों से जो शेष वर्ग हैं उनसे जो रचना रची जाय और जिसमें पाँच छः पदों का समास हो वह पाञ्चाली रीति कहलाती है—

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्त पञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मतः।
द्वयोवैदर्भी गौड्यो॥

आशय यह है कि वैदर्भी एवं गौडी रीति में क्रमशः माधुर्य तथा ओजव्यंजक वर्णों का प्रयोग होता है किन्तु पाञ्चाली में उन वर्णों का प्रयोग होता है जो न तो माधुर्य व्यंजक हैं और न ओज-व्यंजक। इसमें छोटे-मोटे समास को भी स्वीकार किया जाता है। भोज ने इस रीति का यह लक्षण दिया है...."जिसमें पाँच-छः पदों का समास हो; ओज और कान्ति नामक गुण से जो युक्त हो और मधुर एवं सुकुमार हो उस रीति को कवि गण 'पांचाली' कहते हैं—

समस्तपञ्चषपदाभोजः कान्तिसमन्विताम्
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।

उदाहरण—

मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ।।

इस रचना में न तो माधुर्यव्यंजक वर्ण है और न ओज व्यंजक वर्ण उनसे भिन्न यह रचना है, किन्तु मधुरता और सुकुमारता यहाँ विद्यमान हैं; इसमें पाँच-छः पदों के समास भी हैं, अतः यह श्लोक पाञ्चाली रीति का उदाहरण है।

लाटी—वैदर्भी एवं पाञ्चाली इन दोनों रीतियों के मध्य की रीति लाटी है—
लाटी तु रीति वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।

लाटी रीति में वैदर्भी एव पाञ्चाली रीति की अनेक विशेषताओं का समावेश रहता है। अतः इन दोनों के मध्य की यह रीति है। किसी काव्यशास्त्री ने लिख हैं—

मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी ।।

अर्थात् "जो कोमल पदों और सुकुमार समासों से सुन्दर हो और बहुत से संयुक्त अक्षरों से युक्त न हो एवं समुचित विशेषणों के द्वारा जिसमें वस्तु वर्णित हो उसे लाटी रीति कहते हैं—

उदाहरण—

अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ।।

इस उदाहरण का प्रथम चरण कोमलकान्तपदावली में है, जहाँ 'ञ्ज' 'न्द्व' 'न्द' आदि माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं, जो वैदर्भी रीति में प्रयुक्त होते हैं। अन्य चरणों की रचना समस्त तथा ओज वर्ण व्यंजक द्र, भ्र, दृ, भ आदि हैं जो पाञ्चाली रीति के पोषक हैं। इन रीतियों से समन्वित यह लाटी रीति का उदाहरण है। इन रीतियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए किसी अन्य आलंकारिक ने लिखा है—

गौडी डम्बर बद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तुमृदुभिःपदैः ।।

अर्थात् "आडम्बर युक्त रीति को गौडी कहते हैं और सुललित विन्यास युक्त रीति का नाम वैदर्भी है। इन दोनों के मिश्रण से पांचाली रीति होती है और कोमल पदों से लाटी रीति बनती है।"

कभी-कभी वक्ता आदि के औचित्य से रचना का स्वरूप बदल जाता है—
"क्वचित वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः" इस कथन में दो बार आदि शब्द का प्रयोग हुआ है। जो कि क्रमशः वाच्य और प्रबन्ध तथा समास और वर्णों का सूचक

है। उदाहरणार्थ द्रौपदी से बातें करते समय भीमसेन के कान में रण दुन्दुभि का स्वर सुनाई देता है उसे सुनकर भीमसेन कहते हैं—

मन्थायस्तार्णवाम्भः लुप्तकुहरचलन्मन्दरध्वान घीरः।
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंचट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः।
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

आशय यह है कि—"यद्यपि यहाँ वाच्य (रणदुन्दुभि का ताडन) क्रोध का व्यंजक नहीं, प्रत्युत हर्ष का कारण है, क्योंकि भीमसेन तो पहले से ही युद्ध के लिए रस्सियाँ तुड़ा रहे थे केवल युधिष्ठिर ही बीच में बाधक थे, तथापि इस पद्य के बोलने वाले प्रसिद्ध क्रोधी भीमसेन हैं अतः इसकी रचना उद्धृत की गई है। वाच्य के औचित्य से रचना का भेद इस श्लोक में द्रष्टव्य है—

मूर्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो—
द्धूताम्भः क्षोददम्भात्प्रसभमभिनभः क्षिप्तनक्षत्रलक्ष्म्।
ऊर्ध्वन्यस्तांघ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग—
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः॥

"इसमें अर्थ उद्धत होने के कारण रचना में उद्धतता आई है। प्रबन्धौचित्य से रचना का भेद जैसे नाटकादिकों में। रौद्ररस में भी लम्बे समास नहीं किये जाते क्योंकि वे अभिनय के प्रतिकूल पड़ते हैं। अभिनय करते समय ऐसे ही शब्द बोलना उचित है जिनका अर्थ लोग तुरन्त समझ लें—इसी प्रकार आख्यायिका में शृंगार रस में भी कोमल रचना कम होती है क्योंकि वहाँ वक्ता कवि होता है, रागी नहीं। शृंगार में भी मधुर कोमल रचना अनुरागी के मुख से ही अच्छी लगती है। कथा में रौद्र रस में भी अत्यन्त उद्धत रचनादिक नहीं होते क्योंकि वहाँ वक्ता स्वयं क्रोधाविष्ट नहीं होता"—

अत्र वाच्यस्य क्रोधाद्या व्यंजकत्वेऽपि भीमसेन वक्तृत्वेनोद्धता रचनादयः। वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते "मूर्धव्याधूयमान—इत्यादौ। प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः। एवमाख्यायिकायां शृंगारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धता। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।"

आचार्य विश्वनाथ का रीति निरूपण सर्वथा परम्परागत है, उन्होंने प्रचीन आचार्यों के अनुरूप विवेचन किया है।

———

दशम परिच्छेद

अलंकार विवेचन

१. अलंकार का स्वरूप और उसके भेद
२. शब्दालंकार
३. अर्थालंकार
४. उभयालंकार

अलंकार निरूपण :

प्रश्न ६४—अलंकार के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—अलंकारों का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य सौन्दर्य के उत्कर्ष करने वाले तत्व का नाम अलंकार है। 'अलंकार वाणी से विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भाव में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।' वाणी के भूषण हैं इसलिए इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**'अलंकारोतीति अलंकार'** जो अलंकृत करे वह अलंकार है। अलंकार रस के पोषक भी हैं, इसलिए मम्मट ने लिखा है कि—अलंकार, हार आदि आभूषणों के समान हैं, वे रस के उपकारक है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

आचार्य विश्वनाथ अलंकार के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि—"जिस प्रकार अंगदादि (केयूर) आभूषण शरीर के लिए शोभातिशय के जनक होते हुए भी आत्म का उत्कर्षवर्धन करते हैं उसी प्रकार उपमादि काव्य के अलंकार काव्य-शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हुए काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

आचार्य विश्वनाथ अलंकारों का सम्बन्ध रस से जोड़ते हैं और उन्हें रसोपकारक रूप में स्वीकार करते हैं।

संस्कृत साहित्य में अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों को छोड़कर अधिकांश रस ध्वनिवादी आचार्य अलंकारों को शब्दार्थ का अनित्य धर्म स्वीकार करते हैं, जैसेकि कुण्डलादि शरीर के अनित्य धर्म हैं—अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।"

अलंकारों के स्वरूप एवं महत्व का प्रतिपादन करते हुए एक विद्वान कवि ने ठीक ही लिखा है कि—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"

अलंकारों के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं में अन्तर है। अलंकारवादी आचार्य काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्य को अलंकार मानते हैं और कुछ अलंकारवादी काव्य के प्राणभूत तत्व को अलंकार कहते हैं। ये आचार्य काव्य की आतमा का पद अलंकारों को देते हैं। आधुनिक काव्य शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार वर्णन की सुन्दर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली है।

निश्चय ही काव्य में अलंकारों का महत्व है। अलंकार अर्थ सौन्दर्य के उत्कर्षक हैं किन्तु उनका महत्व रस, ध्वनि, गुण, रीति और औचित्य के अनन्तर ही है।

अलंकार के भेद :

अलंकार तीन प्रकार के होते हैं : शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार।

(१) **शब्दालंकार**—शब्दालंकार शब्द विशेष के द्वारा अपना चमत्कार प्रकट करते हैं। शब्द विशेष के परिवर्तन से शब्दालंकार का अस्तित्व प्रभावित होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति आदि प्रसिद्ध हैं।

(२) **अर्थालंकार**—जो अलंकार काव्य में अर्थ के द्वारा चमत्कार सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं, वे अर्थालंकार कहलाते हैं। अर्थालंकारों में शब्द परिवर्तन होने पर भी अर्थ में अन्तर नहीं आता है।

(३) **उभयालंकार**—जो अलंकार शब्द और अर्थ के आश्रित रहकर काव्य को चमत्कृत करते हैं उन्हें उभयालंकार कहते हैं। इनको शब्दालंकार या मिश्रितालंकार भी कहा जाता है।

प्रश्न ६५—सोदाहरण अलंकार निरूपण कीजिए।

उत्तर—

शब्दालंकार :

(1) **अनुप्रास**—अनुप्रासः शब्दासाम्यं वैषम्येऽपिस्वरस्य यत् ।

अनुवाद—स्वर की विषमता होने पर भी शब्द अर्थात् पद पद्यांश के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। आशय यह है कि स्वर की समानता हो या न हो किन्तु अनेक स्वर जहाँ एक से मिल जायें वहाँ अनुप्रास अलंकार होते हैं। "स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेणन्यासोऽनुप्रासः ।

अनुवाद—स्वरों की समता में ही वैचित्र्य नहीं रहता है। यही नहीं, व्यंजनों की समता के समान उसमें चमत्कार भी नहीं होता है, इसलिए उसकी गणना यहाँ नहीं है। अनुप्रास शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार है "रस भाव आदि के अनुकूल प्रकृष्ट न्यास को अनुप्रास कहते हैं। इस अर्थ से यह भी स्पष्ट है कि रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट रचना का नाम अनुप्रास है। अतः रस के प्रतिकूल वर्णन समता को अनुप्रास नहीं कहा जा सकता।

छेकानुप्रास—छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।

अनुवाद—"व्यंजनों के समूह का एक ही बार अनेक प्रकार का साम्य होने को छेक अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। इस लक्षण में अनेक प्रकार के साम्य का यह अभिप्राय है कि स्वरूप से तथा क्रम से भी समानता होनी चाहिए। अर्थात् एक ही स्वरूप के व्यंजन यदि उसी क्रम से दूसरी बार आयें तभी छेकानुप्रास होता है अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए "रसः सरः यहाँ यद्यपि समान स्वरूप वाले व्यंजन 'र' और 'स' दूसरी बार आये हैं किन्तु उसी क्रम से नहीं आये हैं 'रसः' में पहले है 'र' और बाद में 'स' है किन्तु 'सर' में इसके विपरीत क्रम है। अतः यहाँ छेकानुप्रास नहीं हो सकता है।

उदाहरण—आदायबकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥

अर्थ—"मौलसिरी की गान्ध को लेकर पद-पद पर भ्रमर समूह को मदान्ध करता हुआ काबेरी के जल के कणों से युक्त होने के कारण पवित्र पवन धीरे-धीरे चला आ रहा है।"

समन्वय—इस श्लोक में 'गन्धानन्धी' में संयुक्त 'न' और 'ध' की उसी क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है, अतः इसे हम छेकानुप्रास का उदाहरण कह सकते हैं। इसी श्लोक में 'काबेरीवारि' यहाँ असंयुक्त 'व', और 'र', की कथा 'पावनः पवनः' में तीन व्यञ्जनों की एक ही बार समान आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ भी छेकानुप्रास है। छेक का शब्दार्थ है 'चतुरपुरुष' उनके प्रयोग के योग्य होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं।

वृत्यनुप्रास—अनेकस्यैकधा साम्यमसकृतद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ॥

अनुवाद—"अनेक व्यंजनों की एक ही बार एक ही प्रकार से (केबल स्वरूप से ही, क्रम से नहीं) समता होने पर अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्ति होने पर अथवा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम) अनेक बार वर्णों की आवृत्ति होने पर या एक ही अक्षर की एक ही बार आवृत्ति होने पर या एक ही वर्ण की अनेकशः आवृत्ति होने पर वृत्यनुप्रास नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—उन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध मधुप व्याधूत चूतांकुरः।
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण—
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमीवासराः ॥

अनुवाद—'उदित होते हुए मधु की गन्ध के लोभी भ्रमरों से कम्पित आमों की नूतन मंजरी पर क्रीड़ा करते हुए कोयलों के मधुर-मधुर सुरीले कलरवों से जिनके कानों में व्यथा उत्पन्न हो रही है, वे विरही पथिक इस बसन्त ऋतु के दिनों को, चित्त की एकाग्रता के समय स्मरण द्वारा प्राप्त प्राणप्रिया के समागम सुख से जैसे-तैसे व्यतीत करते हैं।'

समन्वय—इस उदाहरण में 'रसोल्लासैरमी' इन शब्दों में 'र' और 'स' का एक ही प्रकार से साम्य है, केवल स्वरूप मिलता है, क्रम नहीं। द्वितीय चरण में 'क' और 'ल' की अनेकशः आवृत्ति उसी क्रम से हुई है। सभी शब्दों में पहले 'क' आया है, बाद में 'ल' अतः यहाँ स्वरूप और क्रम दोनों प्रकार का साम्य है। प्रथम चरण में 'उन्मीलन्मधु' यहाँ मकार की एक बार आवृत्ति, धकार की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः यह एक की एक बार आवृत्ति का उदाहरण है।

लाटानुप्रास—शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।
लाटानुप्रास इत्युक्तो.......................॥

अनुवाद—केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने पर लाटानुप्रास नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—स्मेरराजीवनयने, नयने किं निमीलिते।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम्॥

समन्वय—इस उदाहरण में 'नयने' 'नयने', और 'कन्दर्प' 'कन्दर्प' पदों के द्वारा शब्द तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति हुई है, यहाँ शब्दों के अर्थ में भेद न होने पर भी विषयीभूत सम्बन्ध भिन्न हैं।

यमक—सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥

most

अनुवाद—अर्थवान तथा परस्पर भिन्न अर्थ वाले स्वर व्यंजन समूह की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक (अलंकार) कहते हैं। आशय यह है कि वर्ण समूह की आवृत्ति का नाम यमक है।

2

इस यमक नामक अलंकार में दोनों वर्ण समूह कहीं सार्थक और कहीं निरर्थक कहीं एक अंश के या सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त वर्ण समूह का भिन्नार्थक होना आवश्यक है। इसीलिए लक्षण में 'सत्यर्थे' कहा गया है। उसी क्रम में 'दमो मोदः' को यमक के उदाहरणों से पृथक किया गया है अर्थात् यमक का उदाहरण स्वीकार नहीं किया गया है।

उदाहरण—**नवपलाश पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत पंकजम्।**
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

समन्वय—इस उदाहरण में पदावृत्ति यमक अलंकार है क्योंकि—पलाश-पलाश और सुरभिं सुरभिं दोनों ही सार्थक पदों की इसमें आवृत्ति हुई है। 'लतान्त लतान्त' में प्रथम पद निरर्थक है क्योंकि उसका ल 'मृदुल' शब्द का अंश है। 'पराग पराग' में दूसरा 'पराग' निरर्थक, है क्योंकि 'गत' शब्द का 'ग' इसमें मिला है।

श्लेष—**श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।**

अनुवाद—श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का कथन श्लेष नामक अलंकार कहलाता है। यह श्लेष—वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा के श्लिष्ट होने के कारण वर्ण श्लेष प्रत्यय श्लेष आदि भेदों के कारण आठ प्रकार का होता है।

पद श्लेष का उदाहरण :

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषित निःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणु गहनं सम्प्रति समयावयोः सदनम्॥

अर्थ—हे देव ! पुष्ट सुवर्ण के पात्र, भूषण से शोभित समस्त परिजन, शोभायमान हस्ति समुदाय से व्याप्त आपका यह गृह बच्चों के आर्तस्वर का पात्र, भूमि पर सोने वाले समस्त परिवारीजन, सैकड़ों बिल के 'रेणु' से युक्त मेरे गृह के समान है, अतः मेरा और आपका घर समान है।

समन्वय—इस श्लोक में 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रं' आदि पदों में श्लेष है। अतः यह श्लोक पद श्लेष का उदाहरण है।

विभक्ति श्लेष का उदाहरण :

सर्वस्वं हर सर्वस्य 'त्वं' भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनाम्॥

अर्थ—एक डाकू ने शिव के मन्दिर के पास खड़े हुए अपने पुत्र को लक्ष्य कर यह श्लोक कहा है—इसमें शिव की स्तुति एवं पुत्र को उपदेश दोनों ही अर्थ ध्वनित हो रहे हैं—

शिव के पक्ष में—हे हरे (शिव) आप सबके सर्वस्व हैं, आप जन्ममरणशील (भव) संसार के छेदन में तत्पर हो (आप अपने भक्तों को संसार के बन्धनों से मुक्त करते हैं)। आप नय (न्याय) तथा उपकार का साधन (साम्मुख्य) करने वाली शरीर

की स्थिति (तनुवर्त्तन) को प्राप्त हो (अर्थात् आपके समस्त व्यवहार न्याय और परोपकार करने वाले हैं)।

द्वितीय अर्थ—हे पुत्र त्वं सर्वस्वं हर सर्वस्यः तुम सभी का सर्वस्व हरण कर लो। तुम भित्तिच्छेद में तत्पर हो। किसी का उपकार मत कर अर्थात् उपकार करना छोड़ दे (नय=दूर कर) तथा दूसरों को पीड़ा देने वाले व्यवहार का निरन्तर विस्तार कर (तनु=विस्तार कर)।

समन्वय—यहाँ 'हर' पद एक पक्ष में शिवजी का सम्बोधन होने के कारण सुबन्त और दूसरे पक्ष में क्रिया तिङन्त दोनों है। इसी प्रकार 'भव' एक बार शिव का विशेषण होने से सुबन्त है तथा दूसरी ओर क्रिया है अतः तिङन्त है। अतः इन दोनों पदों में सुप्तिङ् रूप विभक्तियों का श्लेष है।

अर्थालङ्कार :

उपमा—**साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।**
सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम्।

अनुवाद—एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं। जहाँ उपमा के सामान्य धर्म, उपमा वाचक (औपम्यवाची) शब्द, उपमेय और उपमान ये चारों यदि वाच्य हों, अर्थात् शब्द विशेष से प्रतिपादित हों, तो उसे पूर्णोपमा कहते हैं।

व्याख्या—उनमें से यदि सामान्य धर्म आदि किसी एक के अथवा दो या तीन के न होने पर लुप्तोपमा होती है। उसे भी उपमा कहते हैं। दो पदार्थों की सादृश्यता के आधारभूत, गुण, क्रिया आदि को सामान्य धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। जैसे—मनोज्ञत्व, रमणीयत्व आदि साधारण धर्म होते हैं। उपमा वाचक इव, यथा, तुल्य, सम, वत, सदृश आदि वाचक शब्द कहलाते हैं। वर्णनीय मुख आदि उपमेय कहलाते हैं तथा सौन्दर्य निरूपक चन्द्र कमल आदि उपमान कहलाते हैं।

उदाहरण—**मधुर सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलव पाणिः।**
चकित मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः।

अर्थ—उसका अधरोष्ठ अमृत के समान मधुर है। उसके हाथ नये पत्ते के तुल्य अति कोमल हैं। उसके लोचन चकित मृगों के लोचनों के समान चपल हैं।

समन्वय—इसमें तीन उपमाएँ हैं, क्रमशः सुधा, उपमान, अधर उपमेय, वति उपमावाचक तथा मधुरत्वसाधारण धर्म है। इसी प्रकार पल्लव उपमान, पाणि उपमेय, पेलवत्व साधारण धर्म और तुल्य वाचक शब्द हैं। तीसरी उपमा वाक्यगत है—नायिका के लोचन उपमेय हैं, मृगलोचन उपमान है, चपलत्व साधारण धर्म है और 'सदृश' उपमावचक शब्द है। इस प्रकार इस उदाहरण में पूर्णोपमा अलंकार है।

लुप्तोपमा—लुप्ता सामान्य धर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः।
त्रयणां वानुपादने·························॥

अनुवाद—उपमान, उपमेय, उपमावाचक और साधारण धर्म इन चारों के होने पर पूर्णोपमा अलंकार होता है। इनमें से सामान्य धर्म आदि किसी एक या दो अथवा तीन के न होने पर लुप्तोपमा अलंकार होता है।

उदाहरण—मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये।
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्ब तुल्यो, मनोश्मऽवत्॥

अर्थ—हे प्रिये! तुम्हारा मुख चन्द्र जैसा है, तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, तुम्हारी वाणी अमृत सी है, ओष्ठ तुम्हारा बिम्बाफल के तुल्य है और मन तुम्हारा पत्थर के समान है।

समन्वय—(१) 'प्रिये तुम्हारा मुख चन्द्र जैसा है'—यहाँ मुख उपमेय, इन्दु उपमान 'यथा' शब्द उपमावाचक है। साधारण धर्म का उपमावाचक कोई शब्द नहीं है। यहाँ समास या तद्धित भी नहीं है अतः वाक्यगत धर्म लुप्ता उपमा है। (२) "तुम्हारा पाणि पल्लव के तुल्य है" यहाँ पुल्य वाचक 'सम' शब्द है अतः यहाँ वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है। (३) 'तुम्हारी बात अमृत सी है।' यहाँ "सुधा इव" में पूर्ववत् समास और विभक्ति का अलुक है, अतः यहाँ समासगत श्रौती धर्म लुप्ता है। (४) 'तुम्हारा ओष्ठ बिम्बाफल के तुल्य है।' यहाँ समासगंत धर्म लुप्ता उपमा है। (५) "तुम्हारा मन पत्थर के सदृश्य है" यहाँ काठिन्य रूप साधारण धर्म का उल्लेख नहीं है और 'अश्मनातुल्य' इस विग्रह में तृतीयान्त से तुल्यार्थक वति प्रत्यय हुआ है, अतः तद्धितगत धर्मलुप्ता का उदाहरण है।

उपर्युक्त उदाहरणों में साधारण धर्मों का लोप हुआ है। अतः यहाँ लुप्तोपमा अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—"तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते ना वा नयनतुल्यम्।"

अर्थ—"उसके मुख और नेत्रों के समान रमणीय वस्तु अन्य नहीं है।"

समन्वय—यहाँ मुख और नेत्र के समान दूसरी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का कथन नहीं है, अतः यहाँ उपमान का लोप है। 'नयनतुल्यम्' में समासगत उपमा है और दूसरे में वाक्यगत उपमा है।

मालोपमा—"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।"

अनुवाद—जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान हों, वहाँ मालोपमा अलंकार होता है।

उदाहरण—वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा॥

अर्थ—जैसे कमलों से सरोवर मनोरम होता है, चन्द्र से रात्रि मनोरम होती है, यौवनोद्गम से वनिता मनोहर होती है, इसी प्रकार नीति से राज्य श्री मनोहर होती है।

समन्वय—इस उदाहरण में राज्य श्री के तीन उपमान हैं, अतः यहाँ मालोपमा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा—भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना
वाच्या प्रतीयमाना सा—
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।

अनुवाद—किसी प्रस्तुत पदार्थ की अप्रस्तुत के रूप में (कवि कल्पना जन्य) संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। अर्थात् जहाँ उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। वह उत्प्रेक्षा वाच्य और प्रतीयमान दो प्रकार की होती है। एक वह जहाँ वाच्य इवादि का प्रयोग रहता है तथा दूसरी वह जिसमें उत्प्रेक्षा बोधक शब्दों का अभाव रहता है।

समन्वय—भाव यह है कि उत्प्रेक्षा दो प्रकार की होती है—प्रथम उत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं। एक वाच्योत्प्रेक्षा दूसरी प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। जहाँ 'इव' आदिक उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहाँ इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता है वहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा होती है।

उत्प्रेक्षा बोधक शब्दों का उल्लेख दण्डी ने इस प्रकार किया है—

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश ॥

अर्थात् 'मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः नूनं, इति, एवं आदि शब्दों से उत्प्रेक्षा की व्यंजना होती है। इसी प्रकार 'इव' शब्द भी उत्प्रेक्षा व्यञ्जक है।'

उदाहरण—ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तो त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥

अर्थ—राजा दिलीप ज्ञान होने पर भी मौन रहते थे, शक्ति होने पर भी क्षमाशील थे, पुष्कल दान देकर भी आत्मश्लाघा से दूर थे। महाराज में ये समस्त गुण—चुप रहना, क्षमा करना, प्रशंसा से दूर रहने के गुण उनमें ज्ञान, शक्ति और त्याग के साथ ही साथ उत्पन्न हुए थे।

समन्वय—इस श्लोक में—"गुणी में सप्रसवत्व रूप गुण उत्प्रेक्षित है।"

अन्य उदाहरण—तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥

अर्थ—सूत्रयुक्त हार के लिये स्थान नहीं दिया, इस लज्जा से तन्वंगी के स्तन द्वय ने मुख प्रकट नहीं किया।

समन्वय—इस श्लोक में प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है। संहतस्तनी अनुद्भिन्न चूचुका तरुणा को लक्ष्य कर यह उत्प्रेक्षा है। वस्तुतः स्तनों में न तो वास्तविक लज्जा होती है और न मुख ही। यहाँ लज्जा हेतु उत्प्रेक्ष्य है। इव आदि उत्प्रेक्षा बोधक शब्दों का यहाँ अभाव है अतः प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है—अत्र लज्जये वेत्तीवाद्य—भावात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

रूपक—रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे ।

अनुवाद—निषेध रहित (निरपह्नव) विषय (उपमेय) में रूपित (उपमान) के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं । आशय यह है कि जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट है उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना रूपक है । इस प्रकार उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति को रूपक कहते हैं ।

समन्वय—"रूपित यह पद परिणाम से भेद करने के लिए कहा है।"

'निरपह्नवें' यह अपह्नुति से भेद करने के लिए कहा गया है—

'रूपित'—परिणामाद् व्यवच्छेदः ।
एतत्व तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः ।
निरपह्नवे इत्यपह्नुति व्यवच्छेदार्थम् ।

अपह्नुति में उपमेय का निषेधक कोई शब्द अवश्य रहता है । जैसे—'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिः' यहाँ 'न' पद है ।

उदाहरण—आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंहमहीपाल, स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ।।

अर्थ—हे नृसिंह महीपते ! रण में संसार के उद्दण्ड राजमण्डल (चन्द्रमण्डल रूप नृपमण्डल) के लिए राहु स्वरूप तुम्हारे बाहु का कल्याण हो ।

समन्वय—इस उदाहरण में राजपद चुनना और राजा दोनों का वाचक है अतः श्लिष्ट है, इसीलिए राजाओं के मण्डल में चन्द्रमण्डलत्व का आरोप है, यही आरोप बाहू के आरोप का कारण है । अतः यहाँ श्लिष्ट शब्दमूलक परम्परित रूपक हैं ।

अनन्वय—"उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ।"

अनुवाद—एक वाक्य में एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाना—अनन्वय अलंकार कहलाता है ।

समन्वय—"दो वाक्यों में एक ही वस्तु की उपमानता और उपमेयता के होने पर रशनोपमा और उपमेयोपमा कही है, अतः अनन्वय में एक वाक्यगतत्व अथतः सिद्ध है ।"

उदाहरण—राजीवमिव राजीवं, जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ।।

अर्थ—शरद् ऋतु के पूर्णतः उदित हो जाने पर कमल, कमल की ही तरह मनोरम हो गया, जल जल जैसा ही स्वच्छ हो गया और चन्द्रमा भी चन्द्रमा ही की तरह अतन्द्र=तन्द्रा रहित अर्थात् कान्तिमान हो गया । इस उदाहरण में प्रत्येक वस्तु अपनी ही तरह की कही गयी है, अतः इसमें अनन्वय अलंकार है ।

परिभाषा—विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्यातल्याधिकरणो द्विधा ।।

अनुवाद—जहाँ आरोप्य पदार्थ, विषय (उपमेय) के स्वरूप से ही प्रस्तुत

कार्य में उपयोगी हो, वहाँ परिणामालंकार होता है। यह दो प्रकार का एक तुल्याधिकरण और दूसरा अतुल्याधिकरण होता है।

उदाहरण—स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतमम।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया॥

अर्थ—दूर से आने पर उसने स्मितरूप उपहार मुझे प्रदान किया और द्यूत में स्तनोपपीडनपूर्वक आलिङ्गन रूप बाजी पण किया।

समन्वय—"अन्य स्थान भेंट तथा पण, वस्त्रभूषणादि के रूप में उपयुक्त होते हैं, परन्तु जहाँ नायक की सम्भावना (आदर) और द्यूत में स्मित तथा आलिङ्गन के रूप से ही उसका उपयोग है।" पहले दो चरणों में स्मित और उपायन में विभक्तियाँ भिन्न हैं, अतः वहाँ अतुल्याधिकरण परिणाम का उदाहरण है। शेष चरणों में—आश्लेष और पण का समानाधिकरण से निर्देश है, अतः वहाँ तुल्याधिकरणक परिणाम अलंकार है।

उपमेयोपमा—पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।

अनुवाद—दो पदार्थों की जहाँ उपमेयोपमानता क्रम से हो वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है। आशय यह है कि जहाँ एक वाक्य में—जो उपमान हो, वही अगले में उपमेय हो जाय और जो पहले में उपमेय हो दूसरे में वह उपमान बन जाय, वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है।

उदाहरण—कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा, विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य॥

अर्थ—उस राजा की राजलक्ष्मी उतनी ही विभूषित होती है जितनी उसकी बुद्धि और बुद्धि भी उतनी ही प्रकाशित होती है जितनी उसकी राजश्री इसी प्रकार जिसका शरीर कान्ति की तरह और कान्ति शरीर की तरह, पृथ्वी धैर्य की तरह और धृति पृथ्वी की तरह निरन्तर प्रकाशित होती है।

समन्वय—आशय यह है कि वर्णित राजा की श्री और मति के तुल्य और कुछ नहीं है।

सहोक्ति—सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद् वाचकं द्वयोः।
सा सहोक्तिर्मूलभूताऽतिशयोक्ति र्यदा भवेत्॥

अनुवाद—सह शब्दार्थ के कारण जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो, वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है किन्तु इसके मूल में अतिशयोक्ति आवश्यक है। अतिशयोक्ति से रहित होने पर सहोक्ति अलंकार नहीं होता है।

उदाहरण—सहाधरदलेनास्या यौवनेरागभाक् प्रियः।

अर्थ—यौवन के कारण इस सुन्दरी का अधरोष्ठ और प्रियतम दोनों साथ-साथ रागयुक्त हुए हैं।

समन्वय—इस उदाहरण में 'राग' शब्द श्लिष्ट है—अधर के पक्ष में राग का

अर्थ लाल रंग है और नायक के पक्ष में इसका अर्थ अनुराग है। इन दोनों का अभेदाध्यवसाय है अतः अतिशयोक्ति मूल में है। सह शब्द भी प्रयुक्त है, अतः इस उदाहरण में सहोक्ति अलंकार है।

"लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ" अर्थात् लक्ष्मण के साथ राम गहन जंगल को गये। इस वाक्य में सार्थक समं शब्द के प्रयोग होने पर भी मूल में अतिशयोक्ति के अभाव के कारण यहाँ सहोक्ति अलंकार नहीं है।

परिकार—उक्तै विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।

अनुवाद—कहे गये विशेषण या विशेषणों से यदि विशेष अभिप्राय का ज्ञान होता है तो परिकरालंकार होता है। इस अलंकार में साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है।

उदाहरण—अङ्गराज सेनापते द्रोणोपहासिन् कर्ण,
रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम् ॥

अश्वत्थामा अङ्ग देश के राजा और दुर्योधन के सेनापति कर्ण को सम्बोधित कर कह रहा है कि आचार्य द्रोण के उपहास करने वाले कर्ण भीम से इस दुःशासन की रक्षा करो—

समन्वय—यहाँ प्रयुक्त विशेषण साभिप्राय है अतः परिकरालंकार का यह उदाहरण है।

समासोक्ति—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्ग विशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

अनुवाद—जिस वाक्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप वर्णित हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः॥

अर्थ—"जिसका विषयाभिलाष पूर्ण नहीं हुआ है, उस वीर मनस्वी पुरुष को स्त्री की चिन्ता कैसी? समग्र विश्व को आक्रान्त किये बिना सूर्य सन्ध्या का साथ नहीं करता।"

समन्वय—इस उदाहरण में सन्ध्या के स्त्रीलिङ्ग और सूर्य के पुल्लिग होने के कारण नायक और नायिका के व्यवहार का आरोप है अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

कारणमाला—परं परं प्रति यदा पूर्वं पूर्वस्य हेतुता
तदा कारण माला स्यात्........।

अनुवाद—परवर्ती के प्रति जहाँ पूर्ववर्ती वस्तु हेतु होती जाय वहाँ कारण-

माला अलंकार होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कहे गये पदार्थों के प्रति पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होते हैं, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है।

उदाहरण—श्रुतं कृतधियाँ सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः॥

अर्थ—विद्वानों की संगति से शास्त्र ज्ञान होता है और शास्त्र से विनय की प्राप्ति होती है। विनय से लोग अनुराग करते हैं और लोगों के अनुराग से फिर क्या प्राप्त नहीं होता? अर्थात् सब कुछ सुलभ हो जाता है।

समन्वय—इस उदाहरण में कारणमाला अलंकार है क्योंकि उत्तरोत्तर उक्त पदार्थों के लिए पूर्ववर्ती कारण यहाँ विद्यमान है।

परिसंख्या—प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा॥
परिसंख्या।

अनुवाद—प्रश्नपूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के जहाँ उक्त वस्तु से अन्य की शब्द के द्वारा व्यावृत्ति होती है अथवा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति (विच्छेद) होती है। वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

उदाहरण—किमाराध्यं सदा पुण्य कश्चसेव्यः सदागमः।
को ध्येयो भगवान्विष्णुः किं काम्यं परमं पदम्॥

अर्थ—सदा आराध्य: क्या है? पुण्य। सदा सेवनीय क्या है? सच्छास्त्र ध्यान के योग्य क्या है? भगवान विष्णु। इच्छा करने योग्य क्या है? मोक्ष।

समन्वय—इस उदाहरण में प्रश्नपूर्वक वाक्य हैं तथा पुण्यादि शब्दों का व्यवच्छेद पापादि अर्थतः सिद्ध हैं।

अन्य उदाहरण—किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं।
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं।
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्॥

अर्थ—संसार में दृढ़ भूषण क्या है? यश है रत्न नहीं। संसार में कार्य क्या है? सज्जनों द्वारा आचरित पुण्य दोष नहीं। अप्रतिहत नेत्र क्या है? बुद्धि है नेत्र नहीं। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा उचित और अनुचित का विवेक कौन कर सकता है।

समन्वय—इस उदाहरण में पहले प्रश्न किया है फिर यश को भूषण बतला कर अन्य वस्तुओं से व्यावृत्ति कर दी गई है। सम्पूर्ण छन्द में इसी पद्धति को अपनाया है।

भ्रान्तिमान—साम्यादतस्मिंस्तद् बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थतः।

अनुवाद—यदि सादृश्य के कारण किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का ज्ञान हो वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। भ्रान्ति कवि प्रतिभा जन्य होनी चाहिए

तभी अलंकार होगा। इसीलिए सीपी में 'यह चाँदी है' इस भ्रान्त ज्ञान को अलंकार नहीं माना जाता है। क्योंकि यह भान्ति कवि कल्पना जन्य नहीं है।

उदाहरण—मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधोबल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरीमुक्ताफलाशङ्कयाः
सांद्रा चंद्रमसो न कस्य कुरुते चितभ्रमं चन्द्रिका॥

अर्थ—प्रगाढ चन्द्रिका किसके चित्त को भ्रमित नहीं करती? मुग्ध ग्वाले दूध को बहता हुआ जान कर गायों के नीचे कलश लगा रहे हैं। शुक्लाभिसारिका कान्ता भी श्वेत कमल के धोखे में नीलकमल को कानों में धारण कर रही है। शबरी मोती समझकर झरबेरी का संचय कर रही है।

समन्वय—इस उदाहरण में सभी भ्रान्तियाँ कविकल्पना जन्य हैं अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

दीपकम्—अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥

अनुवाद—"जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में परस्पर एक धर्म सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक उल्लिखित हो वहाँ दीपक अलंकार होता है।"

उदाहरण—**बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्**
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सती च योषित्प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेस्वपि॥

अर्थ—नारद जी श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि वह विजयाभिलाषीशिशुपाल आज भी संसार को पहले की तरह सता रहा है। पतिव्रता पत्नी और निश्चल प्रकृति दूसरे जन्म में भी उसी मनुष्य को प्राप्त होती है।"

समन्वय—'यहाँ प्रस्तुत निश्चल प्रकृति तथा अप्रस्तुत सती नारी का एक अनुसरण रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध वर्णित है।' अतः इस श्लोक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म वर्णित है, अतः दीपक अलंकार है।

एकावली—पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदेकावलीद्विधा।

अनुवाद—पूर्व पूर्व के प्रति अगले अगले को विशेषण के रूप में स्थित करें या उसका निषेध कर अलग करें। यह दो प्रकार की होती है प्रथम वह जहाँ पहला पद विशेष्य और उत्तरवर्ती पद विशेषण होता है। द्वितीय एकावली अलंकार वहाँ होता है जहाँ पूर्व पद उत्तर पद का विशेषण हो जाता है।

उदाहरण--सरोविकसिताम्भोजमभ्भोजं भृंगसंगतम् ।
भृंगा यत्र ससंगीताः संगीतं सस्मरोदयम् ।।

अर्थ—सरोवर में कमल खिले हैं और कमलों पर भ्रमर बैठे हैं। भ्रमर संगीतपूर्ण हैं और संगीत में काम के विकास का सामर्थ्य है ।

समन्वय—यहाँ उत्तरोत्तर एक एक विशेषण के रूप में वर्णित है ।

अन्य उदाहरण—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट् पदम्
न षट् पदौऽसौ न गुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ।

अर्थ—वह जल नहीं जिसमें कमल नहीं, वह कमल नहीं जिसमें भ्रमर न हों, वे भ्रमर नहीं जो मनोहर गुञ्जन नहीं करते, वह गुञ्जन नहीं जो मन को नहीं हरता ।

समन्वय—यहाँ पूर्व पूर्व पद जल कमल आदि का उत्तर उत्तर पद से निषेध होने के कारण द्वितीय एकावली है ।

परिवृत्ति—परवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकै र्भवेत् ।

अनुवाद--समान न्यून या अधिक के साथ परस्पर विनिमय करने का वर्णन होने पर परिवृत्ति अलंकार होता है ।

उदाहरण—दत्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्वा गृहीतो मदनज्वरः ।।

अर्थ—उस मृगनयनी ने कटाक्ष देकर मेरा हृदय ले लिया और मैंने अपना हृदय देकर मदन ज्वर ले लिया है ।

समन्वय—इस उदाहरण के पूर्वार्ध में समान वस्तु के साथ में तथा उत्तरार्ध में न्यून के साथ विनिनय हुआ है अतः यहाँ परिवृत्ति अलंकार है ।

सार—उत्तरत्तरमुत्कर्षो वस्तुनःसार डच्यते ।

अनुवाद—वस्तु का उत्तरोत्तर जहाँ उत्कर्ष वर्णित हो वहाँ सार अलंकार होता है ।

उदाहरण—राज्ये सारं वसुधा वसुधायमपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वरांगनानगंसर्वस्वम् ।।

अर्थ—राज्य में सारभूत पृथ्वी है पृथ्वी में नगर, नगर में भवन, भवन में पलंग और पलंग पर कामसर्वस्व रमणी सारभूत है ।

समन्वय—इस उदाहरण में उत्तरोत्तर वस्तु का उत्कर्ष वर्णन है, अतः यहाँ सार अलंकार है ।

निदर्शना—सम्भवन्वस्तुसम्बन्धो सम्भवन्वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ।।

अनुवाद—जहाँ वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध अबाधित (सम्भव) अथवा

बाधित (असम्भव) होकर उनके बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का बोध करे वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

उदाहरण—कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति सम्पदम्।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥

अर्थ—इस भूमण्डल पर मनुष्यों को व्यर्थ संताप देता हुआ कौन अधिक समय पर्यन्त सम्पत्ति का भोग कर सकता है? सन्तापदायक ग्रीष्म दिन के द्वारा यह सूचना देता हुआ सूर्य अस्ताचलगामी हो गया।

समन्वय—यह सम्भव वस्तु सम्बन्ध निदर्शना का उदाहरण है—वक्तारूप से इस सम्बन्ध के द्वारा सूर्य के अस्त होने और सन्तापारी लोगों के विपत्ति में पड़ने—इन दोनों क्रियाओं में सादृश्य है—विम्ब प्रतिविम्ब भाव प्रकट है अतः यह निदर्शना का उदाहरण है।

असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना—प्रयाणे तव राजेन्द्र मुक्ता वैरिमृगीदृशाम्।
राजहंसगतिः पदभ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥

अर्थ—हे राजन्! आपकी विजय यात्रा के अवसर पर शत्रुनारियों के चरणों ने राजहंसों की चालों को छोड़ दिया है और उनके मुख ने चन्द्रमा की सुषमा को छोड दिया है।

समन्वय—इस उदाहरण में असम्भव वस्तु सम्बन्ध निदर्शना है क्योंकि "त्याग उसी वस्तु का होता है जो कभी उसके पास रही हो, अतः हंसों की गति का पैरों से सम्बन्ध मानना होगा क्योंकि बिना सम्बन्ध के पैर उसे त्याग नहीं सकते। किन्तु राजहंस की गति उसी के साथ समवाय सम्बन्ध से रहती है, वह अन्यत्र नहीं जा सकती। यह वाक्यार्थ असम्भव है अतः 'राजहंसगति' का अर्थ है—राजहंस की गति के समान गति।

अन्य उदाहरण—क्वसूर्य प्रभवो वंशः क्वचाल्पविषयामतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

अर्थ—सूर्यवंश कहाँ और मेरी तुच्छ बुद्धि कहाँ? मैं मोहवश छोटा नाव से दुस्तर समुद्र को तैरना चाहता हूँ।

समन्वय—यहाँ मेरी छोटी सी बुद्धि द्वारा सूर्य का वर्णन करना छोटी सी नाव से समुद्र पार करने के समान है। इस उपमा में श्लोक वाक्य का पर्यवसान होने से वाक्यार्थ निदर्शना अलंकार है।

विशेषोक्ति—सतिहेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः त्रिधा च सा।

अनुवाद—कारण के होने पर भी यदि कार्य के अभाव का वर्णन हो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। वह तीन प्रकार का होता है। उक्तनिमित्त, अनुक्त निमित्त और अचिन्त्य निमित्त।

उदाहरण—**धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः।**
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥

अर्थ—जो मनुष्य धनी होकर भी उन्माद रहित, यौवन सम्पन्न होकर भी चञ्चल नहीं है, शासक (प्रभु) होते हुए भी प्रमाद नहीं करते हैं, वे महिमाशाली हैं।

समन्वय—यहाँ धन, यौवन, प्रभुत्व आदि हेतुओं के विद्यमान होने पर भी उन्माद, चञ्चलता और प्रमाद के अभाव को बतलाया गया है, अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है। उन्माद आदि कार्य की अनुत्पत्ति का निमित—"महामहिमशालित्व" भी बताया गया है। अतः उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है।

यदि इसी उदाहरण के चतुर्थ चरण को 'कियन्तः सन्ति भूतले' पढ़ें (भूतल पर ऐसे पुरुष कितने हैं) तो उन्माद आदि निमित्त अनुक्त हो जाता है।

यथासंख्य—**यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।**

अनुवाद—कहे हुए पदार्थों का यदि उसी क्रम से पुनः कथन हो तो यथासंख्य अलंकार होता है।

उदाहरण—**उन्मीलन्ति, नखैर्लुनीहि, वहति, क्षौमाञ्चलेनावृणु**
क्रीडाकाननमाविशन्ति, वलयक्वाणैः समुत्त्रासय।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिल कुहूकण्ठेषुसांकेतिक—
व्याहाराः सुभग, त्वदीय विरहे तस्याः सखीनां मिथः।

अर्थ—"हे सुभग, तुम्हारे वियोग में उसकी सखियाँ परस्पर संकेत से इस प्रकार व्यवहार करती हैं। जब एक कहती है 'उन्मीलन्ति' खिलते हैं तो दूसरी कहती है नखों से नोंच डाल। जब कोई कहती है 'चल रहा' है तो दूसरी कहती है 'रेशमी दुपट्टे से रोक दे।' इधर जब कोई बोलती है कि 'क्रीड़ा वन में घुस रही है' तो इधर से आवाज आती है कि कंकण के शब्द से डराके भगा दे। सखियाँ वेत्र, दक्षिणानिल और कोकिलों के विषय में इसी प्रकार के संकेतों से व्यवहार करती हैं, विरह की उद्दीपक इन वस्तुओं का नाम नहीं लेतीं। यह नहीं कहतीं कि वेंत खिलते हैं। दक्षिणानिल चलता है और क्रीड़ा वन में कोयलें घुस रहीं हैं।

समन्वय—यहाँ वञ्जुल, दक्षिणानिल और कुहुकण्ठ का 'उन्मीलन्ति', 'वहन्ति' और 'आविशन्ति' क्रियाओं के साथ यथासंख्य कर्तृत्व सम्बन्ध है। अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार है।

दृष्टान्त—**दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।**

अनुवाद—दो वाक्यों में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। 'सधर्मस्य' शब्द का प्रयोग प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव नहीं रहता है, अतः उससे भेद प्रकट करने के लिए हुआ है।

उदाहरण—अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ।।

अर्थ—महाकवि की वाणी के गुण चाहे अविदित हों फिर भी वह केवल सुनने से ही कानों में मधु धारा का वर्णन करती है, यह भी देखा गया है कि दूर होने पर भी मालती की माला की गन्ध भले ही प्रतीत हो या न हो फिर भी दृष्टि को वह अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेती है।

समन्वय—इस उदाहरण में बोधक शब्द के न होने पर भी मालती माला के साथ कवि की उक्ति का और सुगन्ध के साथ काव्य गुणों का सादृश्य स्पष्ट है अतः यहाँ दृष्टांत अलंकार है।

अप्रस्तुत प्रशंसा—क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा मतः
अप्रस्तुत प्रशंसा स्याद्।

अनुवाद—जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है, यह पाँच प्रकार का होता है—

(१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष जहाँ व्यंग्य होता तो, अथवा
(२) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य सूचित होता हो, अथवा
(३) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण द्योतित होता हो, अथवा
(४) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य व्यंजित होता हो या
(५) अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यंजन हो।

अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का उदाहरण—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ।।

अर्थ—अपमान होने पर भी चुपचाप बैठने वाले स्वस्थ शरीर वाले मनुष्य की अपेक्षा वह धूल श्रेष्ठ है जो पैरों से ठुकराई जाकर सिर पर चढ़ जाती है।

समन्वय—इस उदाहरण में अप्रस्तुत धूल की प्रशंसा के द्वारा प्रस्तुत अपमान सहिष्णु पुरुष की निन्दा है। आशय यह है कि शिशुपाल के अपमानों को सहने वाले हमारी अपेक्षा धूल भी श्रेष्ठ है।

विभावना—विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।

अनुवाद—हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ विभावना नामक अलंकार होता है। यह विभावना निमित्त उक्त तथा निमित्त अनुक्त भेद से दो प्रकार की होती है। "बिना कारण के जो कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है, वहाँ कोई न कोई दूसरा कारण अवश्य रहता है, वह कभी उक्त होता है और कभी अनुक्त।"

उदाहरण—**अनायास कृशं मध्यमशंक तरले दृशौ।**
आभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः॥

अर्थ—यौवन में सुन्दर भृकुटी वाली इस सुन्दरी की कटि बिना श्रम के ही दुर्बल हो रही है और नेत्र बिना ही शंका के चंचल हैं। और शरीर बिना ही भूषणों के मनोहारी है।

समन्वय—इस उदाहरण में निमित्त-यौवन उक्त है, लेकिन कटि की दुर्बलता, नेत्र की चंचलता और शरीर की मनोहारिता कारण के बिना है अतः विभावना अलंकार है।

10 **अर्थान्तरन्यास**—**सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।**
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।

most

अनुवाद—जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का अथवा कारण से कार्य का या कार्य का कारण से साधर्म्य के द्वारा अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह अर्थान्तरन्यास साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर आठ प्रकार का होता है।

उदाहरण—**बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।**
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।

अर्थ—बड़ों की सहायता से छोटा भी अपना कार्य सिद्ध कर लेता है। पहाड़ी नदी महानदी से मिलकर सागर तक पहुँच जाती है।

समन्वय—यहाँ पर उत्तरार्ध के विशेष कथन से पूर्वार्ध के सामान्य कथन का समर्थन किया गया है।

विशेष का सामान्य से समर्थन—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥

अर्थ—जिसमें शब्द और अर्थ नपे-तुले हैं ऐसी वाणी कहकर श्रीकृष्ण जी शान्त हो गये क्योंकि बड़े लोग स्वभावतः मितभाषी होते हैं।

समन्वय—इस उदाहरण के उत्तरार्ध के सामान्य अर्थ से पूर्वार्ध के विशेष अर्थ का समर्थन किया गया है।

अतिशयोक्ति—**सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।**

अनुवाद—अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। विषय (उपमेय) का अन्तर्भाव कर विषयी (उपमान) के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। अतिशयोक्ति में उपमेय की निश्चित रूप से प्रतीति होती रहती है।

उदाहरण—**कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दु खण्डम्।**
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात्॥

अर्थ—किसी रमणीय नारी को देखकर किसी की उक्ति है—यह देखो कैसा आश्चर्य है कि सबसे ऊपर मयूर का केशपाश है, उसके नीचे अष्टमी का चन्द्र शोभायमान है, उसके नीचे दो चपल नीले कमल हैं, और उनके नीचे तिल का फूल तथा उसके नीचे सुन्दर मूंगे का खण्ड सुशोभित है।

समन्वय—इस उदाहरण में "कामिनी के केशपाश का मयूर के रूप में, उसके मस्तक का अष्टमी के चन्द्रमा के रूप में, नासिका का तिलपुष्प के स्वरूप में और अधरोष्ठ का विद्रुम के स्वरूप में अध्यवसान हुआ है—अत्र कान्ताकेशपाशादेमयूर कलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपिधर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥

अनुवाद—जहाँ एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों जिनमें सादृश्य प्रतीयमान होता हो किन्तु वाच्य न हो में पृथक्-पृथक् शब्दों में कहा जाय वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।

उदाहरण—धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरली करोति ॥

अर्थ—हे दमन्यती तुम धन्य हो, जिसने अपने उदार गुणों से महाराज नल को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका की इससे अधिक और प्रशंसा क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी विक्षुब्ध (चंचल) कर देती है।

समन्वय—इस उदाहरण में आकर्षण और चंचल करना एक ही क्रिया है किन्तु उसे दो शब्दों में कहा गया है।

(12) most

व्यतिरेक—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा।

अनुवाद—उपमान से उपमेय का आधिक्य, अथवा उपमान से उपमेय का न्यूनता के वर्णन में व्यतिरेक अलंकार होता है।

उदाहरण—अकलंक मुखं तस्या न कलंकी विधुर्यथा।

अर्थ—उसका निष्कलंक मुख कलंकी चन्द्रमा के जैसा नहीं है।

समन्वय--इस उदाहरण में मुख (उपमेय) की उत्कृष्टता का हेतु निष्कलंकत्व और चन्द्र (उपमान) की हीनता का कारण कलंक दोनों हेतु शब्दता कहे गये हैं, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार हैं—अत्रोपमेयगतमकलंकत्वमुपमानगतं च कलंकित्व हेतुद्वयमुप्युक्तम्।

(13) most

विरोध—जातिश्चतुर्भिजात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद द्रव्यं द्रव्येण वामिथः।
विरुद्धमेव भासेत विराधोऽसौ दशाकृतिः ॥

अनुवाद—"जाति जहाँ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ विरुद्ध भासित हो, गुण गुणादिक तीन के साथ, क्रिया, क्रिया और द्रव्य के साथ एवं द्रव्य, द्रव्य के

साथ विरुद्ध भासित हो वहाँ विरोधालंकार होता है। इसके दस भेद हैं। इसमें दो वस्तुओं में परस्पर वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध के आभास का वर्णन होता है।"

उदाहरण—**तव विरहे मलयमरुद्दवानलः शशिरुचोऽपि सोष्माणः**
हृदयमलिरुतमपि भिन्ते, नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः।

अर्थ—"तुम्हारे विरह में उस कामिनी को मलय मरुत दावानल की भाँति जला रहा है, चन्द्रमा की किरणें भी ज्वलनशील हो गयी हैं, भ्रमरों की मधुर गुञ्जार भी हृदय को छिन्न-भिन्न करती है और कमल पत्र ग्रीष्म कालीन सूर्य हो रहा है।"

समन्वय—इस उदाहरण में प्रदत्त समस्त तत्व विरोधी है—"मलय मरुत और दावाग्नि दोनों ही शब्द जाति वाचक हैं अतः जाति का जाति से आपाततः विरोध भासित होता है। अन्त्य में विरह जन्य होने से समाधान होता है। किरण शब्द जाति वाचक है और ऊष्मा गुण (स्पर्श विशेष) है। यहाँ क्रिया और गुण का विरोध है। अलिगुञ्जित से भेदन क्रिया का विरोध है। 'नलिनी दल' जाति वाचक है, उसका निदाघरवि (द्रव्य) के साथ विरोध है। ठण्डा कमल पत्र सूर्य के समान गरम नहीं हो सकता। विरह हेतुक होने से समाधान होता है।"

(हिन्दी टीका साहित्य दर्पण : शालग्राम साहित्याचार्य)

अन्य उदाहरण—**अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।**
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव॥

अर्थ—"हे देव! अजन्मा होते हुए जन्म ग्रहण करने वाले, निरीह होने पर भी शत्रुनाशक, शयन करते हुए भी जाग्रत आपके स्वरूप को कौन जान सकता है।"

समन्वय—इस उदाहरण में अजत्व आदि धर्मों का जन्म ग्रहण आदि धर्मों के साथ विरोध है। ये दोनों ही विशेषताएँ एक में सम्भव नहीं हैं। किन्तु ऊपर से प्रतीयमान विरोध का भगवान के माहात्म्य से समाधान हो जाता है।

उल्लेख—**क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।**
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥

अनुवाद—ज्ञाता, विषय आदि के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख होने से उल्लेखालंकार होता है।

उदाहरण—**प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।**
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः॥

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण को गोपियों ने देखकर अपना प्रियतम समझा, नन्द आदि वृद्धगोपजनों ने शिशु, देवताओं ने देवेश्वरः भक्तों ने नारायण और योगियों ने उन्हें साक्षात् ब्रह्म समझा।

समन्वय—इस उदाहरण में भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं किन्तु उनको प्रियतम, शिशु, अधीश्वर, नारायण, ब्रह्म आदि रूपों में देखा गया है अतः यहाँ ज्ञाता के भेद से नाना प्रकार के उल्लेख हैं अतः यहाँ उल्लेख अलंकार है।

तुल्ययोगिता—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एक धर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।।

अनुवाद—प्रस्तुत या अनेक अप्रस्तुत पदार्थों का एक ही नियत धर्म के साथ सम्बन्ध होना तुल्ययोगिता अलंकार होता है ।

उदाहरण—अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।
समयेन तेन सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ।।

अर्थ—उस संध्या समय ने—चिरकाल तक सुप्त कामदेव जिससे जागृत हो उठे, ऐसे अनुलेपन—चन्दन, कस्तूरी आदि के लेपों, पुष्पों, पतियों पर नाराज अबलाओं और दीपों की बत्तियों को प्रतिबोधित किया ।

समन्वय—इस उदाहरण में संध्या एवं अनुलेपनादि प्रस्तुत हैं, इनसे बोधन क्रियारूप एक धर्म का सम्बन्ध है अतः तुल्ययोगिता अलंकार है—अत्र संध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रियाभिसम्बन्धः ।

अपह्नुति—प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति ।

अनुवाद—प्रकृत (उपमेय) का प्रतिषेध कर अन्य उपमान का स्थापन करना अपह्नुति कहलाता है ।

उदाहरण—नेदं नभो मण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेन भङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नाऽसौ कलंकः शयितोमुरारिः ।।

आकाश का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि—

अर्थ—यह आकाशमण्डल नहीं है जलराशि (समुद्र) है । और न ये तारे हैं अपितु नूतन फेनों के खण्ड हैं । न यह चन्द्रमा है, यह तो कुण्डलित शेषनाग है । यह काला काला दृष्टिगत होने वाला कलंक नहीं है, यह शेष नाग पर सो रहे भगवान विष्णु हैं ।

समन्वय—"यहाँ शब्दतः अपह्नवपूर्वक आरोप स्पष्ट है, क्योंकि प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत क्षीरसागर आदि का सत्यत्व प्रतिपादित है । अतः यहाँ, अपह्नुति अलंकार है ।

स्वाभावोक्ति—'स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थस्वक्रियारूप वर्णनम् ।

अनुवाद—दुरूह (कविमात्र से ज्ञातव्य) किसी वस्तु के यथार्थ मनोहारीवर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं । इसमें वर्ण्यविषय की चेष्टायें और स्वरूप का वर्णन किया जाता है ।

उदाहरण—'लांगूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपदभ्या—
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रौत्पतन्विक्रमेण
स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान्द्रावयन्नेव जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ।'

अर्थ—पुनः पुनः पूँछ पटककर आगे के पैरों से भूमि को खोदता हुआ, जोर जोर से घूँ-घूँ शब्द करता हुआ सभी प्राणियों को इधर उधर भगाता क्रोध से भरा लाल लाल उठी हुई आँखों वाला बघेरा (तरक्षुस्तुमृगादनः) वन में प्रविष्ट हो रहा है ।

समन्वय—इस उदाहरण में बघेरे का चित्रण स्वभावोक्ति के सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

प्रतीपम्—प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ।।

अनुवाद—प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना यह उपमान को निष्फल बताना प्रतीप अलंकार कहलाता है।

उदाहरण—तद्वक्त्रं यदि, मुदिता शशिकथा हाहेम, सा चेद् द्युति
स्तच्चक्षुर्यदि, हारितं कुवलयैस्तचेत्स्मितं, का सुधा।
धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ।।

अर्थ—यदि वह मुख है तो चन्द्रमा की कथा ही समाप्त हुई। और उसकी अगछवि के समक्ष सुवर्ण कुछ भी नहीं है। यदि वे चक्षु हैं तो नील कमलों की पराजय हो गई। उसकी स्मित के समक्ष अमृत भी कुछ भी नहीं। यदि उन भ्रकुटियों की बात है तो काम के धनुष को धिक्कार है, अधिक क्या कहें निश्चय ही यह सत्य है कि विधाता की सृष्टि में एक के समान दूसरी वस्तु है ही नहीं। आशय यह है कि यह नायिका अनुपम है इसके समान कोई उपमान है ही नहीं।

समन्वय—इसमें चन्द्र आदि उपमानों की व्यर्थता वर्णित है। अतः यहाँ प्रतीप अलंकार है।

(14) **सन्देह—सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।** most

अनुवाद—प्रकृत (उपमेय) में अन्य (उपमान) के संशय को सन्देह अलंकार कहते हैं किन्तु यह संशय कविप्रतिभाजन्य होना चाहिए। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है कि संशय भी चमत्कार पूर्ण होना चाहिए।

उदाहरण—किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
बेला प्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य श्रृंगारिणः ।।

इस उदाहरण में सुन्दरी का वर्णन संशय में ही समाप्त हो जाता है अतः शुद्ध सन्देह अलंकार है—

अर्थ—"रस की अधिकता के कारण खिली हुई यौवन रूप वृक्ष की क्या यह नवीन मञ्जरी है? अथवा समुद्रतट तक उछलते हुए लावण्यसागर की यह लहर है? या बढ़ी हुई उमंगों वाले पुरुषों को अपने सिद्धान्तों (कामशास्त्र) की शिक्षा देने में तत्पर श्रृंगार के अधिष्ठातृदेव कामदेव की यह उपदेशयष्टि है?"

समन्वय—"इस उदाहरण में उपमेयभूत कामिनी में उपमान भूतलता आदि का कविप्रतिभोत्थ संशय विद्यमान है, अतः यहाँ 'सन्देह अलंकार' है।

भाविक—यद् भुतस्य पदार्थस्व भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ।।

अनुवाद—भूत अथवा भविष्यत् किसी अद्भुत वस्तु का प्रत्यक्ष के समान वर्णन करने पर भाविक अलंकार होता है।

उदाहरण—मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥

अर्थ—कुम्भ से उत्पन्न जिन्होंने एक चुल्लू में (समुद्र का आचमन करते समय) मत्स्य और कच्छप (मत्स्यावतार और कच्छपावतार) को देखा है, ऐसे योगीराज महात्मा अगस्त्य मुनि सर्वोत्कृष्ट हैं।

समन्वय—इस श्लोक में अतीत में हुए अगत्स्य-ऋषि का वर्त्तमान में प्रत्यक्ष वस्तु के समान वर्णन है। अतः भाविक अलंकार है।

संसृष्टि—मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितः संसृष्टिरुच्यते।

अनुवाद—संसृष्टि अलंकार वह है जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकारों की परस्पर निरुपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति होती है।

आशय यह है कि लक्षणग्रन्थों में वर्णित अलंकारों की एक साथ स्थिति होने पर संसृष्टि अलंकार होता है। एकत्र स्थिति में एक, दो या उनसे भी अधिक अलंकार हो सकते हैं।

उदाहरण—देवः पायापायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥

अर्थ—"विकसित नील कमल के समान नेत्रों वाले और संसार रूपी अंधकार के विध्वंस के लिए सूर्य, वे कंससंहारक भगवान कृष्ण समस्त संकटों से हमारी रक्षा करें।"

समन्वय—इस उदाहरण में उपमा और रूपक, यमक वृत्यनुप्रास की संसृष्टि है 'क्योंकि 'पायादपायात्' में यमक है, उत्तरार्द्ध में वृत्यनुप्रास है। "स्मेरेन्दीवर लोचनः में उपकार अलंकार है संसाररूप अन्धकार को दूर करने में हंस (सूर्य) रूप" में रूपक है। इस प्रकार शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों की परस्पर सृष्टि है।

संकर—अङ्गाङ्गित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ॥

अनुवाद—संकर अलंकार तीन प्रकार का होता है एक तो जहाँ कई अलंकारों में अङ्गाङ्गिभाव हो, दूसरा—जहाँ एक ही आश्रय (शब्द या अर्थ) में अलंकारों की स्थिति हो, तीसरे जहाँ कई अलंकारों का सन्देह होता हो।

उदाहरण—अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

अर्थ—संध्या अनुरागपूर्ण है और दिन उसके समक्ष उपस्थित है, किन्तु दैव गति अत्यन्त विचित्र है कि उनमें इतने पर भी समागम नहीं होता।

समन्वय—इस उदाहरण में समासोक्ति विशेषोक्ति का अंग है अतः अंगांगीभाव का यह उदाहरण है।

————

व्याख्या-खण्ड

प्रथम परिच्छेद

सरस्वती की स्तुति :

शरदिन्दुसुन्दर रुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु ॥[1]

इस श्लोक के द्वारा आचार्य विश्वनाथ वाग्देवी की स्तुति कर रहे हैं । प्राचीन भारतीय साहित्य में कवि अपनी रचना की निर्विघ्न पूर्णता के लिए मंगलाचरण करते रहे हैं । मंगलाचरण का विधान प्राचीन काल से मान्यता प्राप्त है—

मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानिवशास्त्राणि प्रथन्ते वीर पुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति ।

इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर आचार्य विश्वनाथ ने सरस्वती देवी की स्तुति की है—

अनुवाद—वह वाग्देवी सरस्वती जो शरत कालीन चन्द्रमा की भाँति काँति वाली है। वह मेरे मन में व्याप्त अज्ञान रूपी तम (अन्धकार) का नाश कर (दूर कर) समस्त काव्य, साहित्य आदि के तत्वों को प्रकाशित करे ।

---

१. **शब्दार्थ**—सा देवी=वह सरस्वती देवी। शरदिन्दुसुन्दररुचि=शरत् काल के चन्द्रमा के समान धवल, शुभ्र सौन्दर्य वाली । तमः अपहृत्य=अन्धकार (अज्ञान रूपी) का अपहरण कर । सन्ततम्=निरन्तर । अखिलान्=समग्र । अर्थान्=अर्थों, तत्वों को । प्रकाशयतु=प्रकाशित कर दे ।

काव्य प्रयोजन :

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरुप्यते ॥[1]

संस्कृत साहित्य में काव्य के प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया गया है। शास्त्र और काव्य का कोई न कोई निश्चित प्रयोजन होता है, क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी सार्थकता ही क्या ?

आचार्य विश्वनाथ काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—

अनुवाद—काव्य के अध्ययन अध्यापन (अनुशीलन) से ही चतुर्वर्ग (धर्मः, अर्थ, काम और मोक्ष) रूप फल की प्राप्ति, बिना आयास के साधारण बुद्धि वालों को भी हुआ करती है, अतः उसके स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्य न रावणदिवदित्यधिकृत्य प्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव । उक्तं च

राम आदि की तरह आचरण करना चाहिये, रावण आदि की तरह नहीं, इस रूप से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रति प्रवृत्त और अप्रवृत्त होने के उपदेश के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग अथवा पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल की प्राप्ति होती है, यह सर्वविदित है। अतः आचार्य भामह ने भी लिखा है कि सत्यकाव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय के अतिरिक्त कलाओं में नैपुण्य, कीर्ति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए होता है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥"

काव्य के प्रयोजन में भामह ने आनन्द नामक नये तत्व का संकेत किया है। वैसे तो चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति वेद और शास्त्र से होती है, किन्तु वेद और शास्त्र के नीरस होने के कारण वह बड़े दुःख से होती है। साथ ही यह ज्ञान परिपक्व बुद्धि वालों को ही हो सकता है। किन्तु परम आनन्द के समूह (संदोह) का जनक होने के कारण, सुख पूर्वक सुकुमार बुद्धि वालों को भी होती है, अतः काव्य सहज ग्राह्य और अधिक फल वाला है। यह तो शर्करावेष्ठित कुनैन की गोली की भाँति है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने भी लिखा है—

काव्यं यशसे अर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ॥

---

१. **शब्दार्थ**—चतुर्वर्गफल प्राप्ति = धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति। सुखाद् = सुख पूर्वक, बिना आयास के। अल्पधियामपि = कम बुद्धि वाले। काव्यादेव = काव्य से ही। निरुप्यते = विचार किया जाता है, निरूपण किया जाता है।

काव्य का स्वरूप :

भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य-शरीर की चर्चा हुई है। उस शरीर में प्राणों का आधान भी किया गया है किसी ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है तो किसी ने ध्वनि को। वक्रोक्ति, औचित्य और रस को भी काव्य आत्मा कहा गया है, विश्वनाथ ने काव्य शरीर की चर्चा इस प्रकार की है—

काव्यस्य शब्दार्थों शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतियोऽवयवसंस्थानवत् अलंकाराः कटक कुण्डलादिवत्।

अनुवाद—काव्य के शब्द और अर्थ शरीर हैं, रस आत्मा है, गुण शौर्य आदि की भाँति हैं, दोष कानापन आदि की तरह हैं, रीतियाँ अवयव तथा संस्थान हैं, अलंकार कटक और कुण्डल आदि आभूषणों के समान हैं।

इस प्रकार यह काव्य शरीर है, किसी ने **"शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम्"** लिखा था, उस शब्दार्थ शरीर की आत्मा के साथ प्रतिष्ठा आचार्य विश्वनाथ ने की है। उसका विश्वनाथ ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

अर्थात्—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं।[1] रसात्मक वाक्य का स्पष्ट विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—

रस एवात्मा साररुपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यस्याभावस्य प्रतिपादितत्वात्।

अर्थात्—"रसात्मक वाक्य वह होता है जिसका वस्तुतः आत्मभूत अथवा साररूप होने के कारण जीवनाधायक तत्व—'रस' है। क्योंकि इस 'रस' के अभाव में वह काव्य नहीं माना जायगा।

वस्तुतः रस वह है जिसका आस्वाद लिया जाता है, **"रस्यते इति रसः"** इस व्युत्पत्ति के सहयोग से रस के आभासादि (रसाभास, भावाभास, भावशवलता, भावसान्धि, भावोदय भावशान्ति आदि) को भी ग्रहण किया जाता है।

काव्य शरीर, उसकी आत्मा आदि का विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने काव्य दोषों का भी विवेचन किया है—

दोषास्तस्यापकर्षकाः।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देह द्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।

---

१. इस वाक्व की विस्तृत व्याख्या और समीक्षा के लिए पृष्ठ संख्या ३४-३८ का अच्छी तरह अध्ययन करें।

अनुवाद—"काव्य के अपकर्षकारक तत्व दोष कहलाते हैं। 'श्रुतिदुष्टत्व', अपुष्टार्थत्व आदि काणत्व और खञ्जत्व (काना और लंगड़ा होने की) की तरह होते हैं। जिस प्रकार काणत्व और खञ्जत्व शरीर में अपकर्ष उत्पन्न करते हुए आत्मा को भी निकृष्ट बना देते हैं, वैसे ही श्रुतिदुष्टत्व और अपुष्टार्थत्व शब्द और अर्थ का अपकर्ष करते हुए काव्य के सारभूत रस के भी अपकर्षक हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यभिचारी भाव निर्वेद ग्लानि, स्मृति आदि के वाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादन को मूर्खता (कायरता) आदि की तरह माना जाता है। आशय यह है जैसे मूर्खता आदि से साक्षात् आत्मतत्व की अप्रतिष्ठा होती है, वैसे ही व्यभिचारी भाव स्वशब्द वाच्यत्व द्वारा काव्य के आत्मभूत तत्व रस का अपकर्ष कर देते हैं। अतः इन दोषों को काव्य का अपकर्षकारक कहा जाता है।

गुण का स्वरूप—काव्य के उत्कर्ष के कारणों को गुण अलंकार और रीति कहते हैं—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररतीयः।

इस वाक्य की व्याख्या करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है कि—काव्य के गुण (मनुष्य के) शौर्य आदि की तरह हैं। काव्य के अलंकार (मनुष्य शरीर के) कटक, कुण्डल आदि आभूषण की भाँति हैं और काव्य की रीतियाँ मनुष्य शरीर के अंग विन्यास विशेष की तरह हुआ करती हैं। इन्हें काव्य का उत्कर्ष कारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये मनुष्य के शरीर की तरह शब्द और अर्थ (रूप काव्य-शरीर) को उत्कृष्ट बनाते हुए काव्य के आत्मभूत रस को भी उत्कृष्ट करते हैं।

———

द्वितीय परिच्छेद

वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

इस अवतरण में **वाक्य के स्वरूप** पर विचार किया गया है ।

अनुवाद—योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह को वाक्य कहा जाता है । आशय यह है कि एक सार्थक वाक्य रचना के लिए पदों में योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का होना नितान्त आवश्यक है । एक के अभाव में निर्दिष्ट वाक्य अपने अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकता है सार्थक वाक्य के मूलभूत तत्व आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से मुक्त पदसमूह को वाक्य कहा जाता है ।

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे वह्निना सिञ्चति इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् ।

वाक्य में प्रयुक्त योग्यता शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

योग्यता एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में बाधा का न होना ही योग्यता है । इस योग्यता का स्पष्टीकरण करने के लिए वह पानी से सींचता है उदाहरण है । इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है क्योंकि पानी का धर्म सींचना है किन्तु यदि हम कहें—'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता का अभाव है, क्योंकि आग की योग्यता सींचने में न होकर जलाने में है । अतः योग्यता के अभाव में 'वाह्निना सिञ्चति' जैसे पद भी वाक्य कहलाने लगेंगे ।

आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसान विरहः । सच श्रोतुजिज्ञासारूपः निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वे स्यात् ।

आकांक्षा—का शाब्दिक अर्थ है जिज्ञासा । वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए किसी दूसरे पद का होना आकांक्षा है । इस बात को आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार कहा है—'किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है । वस्तुतः श्रोता की यह जिज्ञासा ही है । इस आकांक्षा के बिना भी यदि पद समूह वाक्य होने लगे तब गौरश्वः पुरुषो हस्ती (गाय, घोड़ा, आदमी, हाथी) आदि पद समूह भी वाक्य माने जाने लगेंगे । (किन्तु ऐसे पद समूह जिनमें प्रत्येक में श्रोता की प्रतीति पूर्ण हो जाती है वाक्य नहीं माने जाते) ।

आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः बुद्धिविच्छेदेऽपिवाक्यत्वे इदानीमुच्चरितस्य देवदत्त-शब्दस्य दिनान्तरोच्चरितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात् ।

आसत्ति—"प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अविच्छेद अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं।" आशय यह है कि पदार्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा रुकावट का न होना। यदि ऐसे पद समूह को भी वाक्य माना जाने लगे जिनके अर्थों की उपस्थिति में विच्छेद अथवा व्यवधान होता है। तब तो इस समय बोले गये 'देवदत्तः' पद का दूसरे दिन बोले जाने वाले 'गच्छति' पद के साथ भी सम्बन्ध होना चाहिये किन्तु ऐसा होता नहीं है।

वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधामतम् ।

इस अवतरण में महावाक्य का उल्लेख किया गया है।

वाक्य समुदाय को 'महावाक्य' कहते हैं। यह वाक्य समुदाय योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त होता है। यह वाक्य दो प्रकार का होता है। एक वाक्य दूसरा महावाक्य—

वाक्य महावाक्यत्वेन । तत्र वाक्यं यथा—

वाक्य का उदाहरण आचार्य विश्वनाथ के अनुसार निम्न है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जात पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अर्थात्—"शयनगृह को सूना देखकर धीरे से शय्या पर थोड़ा उठकर, निद्रा के बहाने से पड़े हुए पति के मुख को बड़ी देर तक देखकर (निर्वण्य) निःशङ्कतया (कपोलप्रान्तों का) चुम्बन किया तब प्रिय के कपोलस्थल को पुलक युक्त (पुलकित) देखकर लज्जा से नम्रमुखी उस (मुग्धा) वाला का हंसते हुए प्रियतम ने चिरकाल तक चुम्बन किया।"

महावाक्यम् यथा-रामायण महाभारत रघुवंशादि ।

महावाक्य को स्पष्ट करते हुए सोदाहरण आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि।

पदोच्चयो वाक्य मित्युक्तम् तत्र किं पदलक्षणमित्यत्र आह—वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थ बोधकाः। यथा घटः प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः। अनन्वितेति वाक्य महावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेक पदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति क च ट तपेत्यादीनाम्। वर्णाइति बहुवचनमविवक्षितम्।

इस अवतरण में कविराज महोदय 'पद' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—पदोच्चय अथवा पदसमूह 'वाक्य' है। वाक्य में प्रयुक्त 'पद' क्या है। 'पद'

उन वर्णों को कहते हैं। जो प्रयोग के योग्य तथा अनन्वित एक अर्थ का बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए 'घटः' (घड़ा) यह वर्णसमूह पद है। यहाँ 'प्रयोगार्ह' इसलिए कहा गया है जिससे 'प्रातिपदिक' [विभक्तिर हित] को 'पद' न माना जाय, अनन्वित इसलिए कहा गया जिससे (परस्पर) सम्बद्ध अर्थ के बोधक 'वाक्य' और 'महावाक्य' को न समझा जाने लगे, 'एक' इसलिए कहा गया जिससे परस्पर साकांक्ष अनेक 'पद' और अनेक 'वाक्य' को पद से व्यवच्छिन्न किया जा सके और 'अर्थबोधक' इसलिए कहा गया है जिससे क, च, ट, त, प आदि वर्णों को पद न माना जाने लगे। यहाँ 'वर्णाः' में जो बहुवचन है वह विवक्षित नहीं है।

अर्थो वाच्यश्य लक्ष्यश्य व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः।

एषां स्वरूप माहः—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः लक्ष्यो लक्षणया मतः

व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्यशक्तयः।

इन कारिकाओं में आचार्य विश्वनाथ अर्थ के तीन प्रकारों का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—

अर्थ तीन प्रकार का होता है—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। इनका स्वरूप इस प्रकार है—वाच्य वह अर्थ हुआ करता है जिसका बोध अभिधा से होता है लक्ष्य अर्थ वह होता है जिसका बोध लक्षणा नामक शब्दशक्ति से होता है और व्यङ्ग्यार्थ वह है जिसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक शब्द शक्ति से होती है। यह तीन अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शब्द की शक्तियां कहलाती हैं।

उपर्युक्त कारिका से यह स्पष्ट होता है कि जितने प्रकार के शब्द होते हैं उतनी ही प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं शब्दों के अनुरूप तीन प्रकार के अर्थ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं। शब्द और अर्थ के अनुरूप ही शब्द की तीन अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियाँ होती हैं।

तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा।

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च॥

अनुवाद—साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने के कारण प्रथम या मुख्य शब्द की शक्ति अभिधा कहलाती है। संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया से होता है।

इस कारिका की द्वितीय पंक्ति में संकेत ग्रह के सम्बन्ध में विश्वनाथ ने अपनी मान्यता व्यक्त की है। संकेत ग्रह का विषय विवाद का है। कोई व्यक्ति संकेत ग्रह जाति में मानते हैं, तो कोई व्यक्ति में, किन्तु काव्यशास्त्री मम्मट और विश्वनाथ दोनों ही वैयाकरणों के मत से सहमत हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है कि—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दा गुणशब्दाः

क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्धा।

मम्मट ने पतंजलि के कथन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि "केवल व्यक्ति में संकेत मानने पर शब्दों के चार विभाग नहीं बन सकते। ऐसी स्थिति में गौ, शुल्कः चलः, डित्थः आदि चारों प्रकार के शब्द व्यक्ति अर्थ को ही बोधित करने लग जाएँगे, इसलिए व्यक्ति में संकेत न मानकर जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा जो व्यक्ति के उपाधि रूप ही हैं।" अतः इन्हीं में संकेतग्रह मानना उचित होगा। इसी बात को विश्वनाथ ने "**संकेतो गृह्यते जातौ गुण, द्रव्य क्रिया सु च।** से व्यक्ति किया है।

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता:॥

अनुवाद—"मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा नामक शब्दशाली होती है, तथा उससे बोधित अर्थ मुख्यार्थ कहा जाता है, इस अर्थ के बोधित होने पर उससे संयुक्त अन्य अर्थ रूढ़ि या प्रयोजन से अभिप्रेत अर्थ का जिस शब्दशक्ति द्वारा बोध होता है, उसे लक्षणा कहते हैं।"

इस कारिका के आधार पर लक्षणा शब्दशक्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) मुख्यार्थ का बाध,
(२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध,
(३) रूढ़ि या प्रयोजन।

मुख्यार्थ का बाध—जब मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा हो अथवा प्रत्यक्ष विरोध दृष्टिगत हो अर्थात् वक्ता जिस अर्थ को प्रकट करना चाहता है वह स्पष्ट न हो तो उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग—मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर जब अन्य अर्थ गृहीत होता है, उस गृहीत अर्थ का मुख्य अर्थ से सम्बन्ध होना आवश्यक है इसे मुख्यार्थ का योग कहा जाता है।

रूढ़ि या प्रयोजन—रूढ़ि का शाब्दिक अर्थ है प्रसिद्धि। किसी वस्तु का प्रसिद्ध नाम। प्रयोजन का अर्थ है फल विशेष या अभिप्राय विशेष के कारण वक्ता का लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करना।

उदाहरण के लिए—"कर्मणि कुशल:" [किसी कार्य विशेष में दक्ष है] इस वाक्य को लिया जा सकता है। किन्तु इस वाक्य में प्रयुक्त 'कुशल' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—कुश लाने में चतुर **कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः।** इस व्यत्पत्ति लक्ष्य अर्थ के अनुसार कुशों का कोई प्रयोजन न होने के कारण यहाँ-मुख्यार्थ का बाध होता है। इसी प्रकार—**गंगायां घोष** [गंगा में गाँव है] उदाहरण में गंगा के जल प्रवाह रूप मुख्यार्थ में बाध होता है। अतः इन दोनों उदाहरणों का उपर्युक्त अर्थों से भिन्न कोई अर्थ इन वाक्यों में निहित है। जो अभिधा से व्यक्त नहीं होता है, उसके लिए लक्षणा शक्ति की आवश्यकता होती है।

प्रथम उदाहरण—"कर्मणि कुशलः" में 'कुशलः' शब्द दक्ष अर्थ में रूढ़ होने के कारण यहाँ पर रूढ़िलक्षणा है और दूसरे उदाहरण "गंगायां घोषः" में मुख्य शब्द के प्रयोग से जिन शैत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति नहीं होती है, उनका प्रतिपादन करने के कारण प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण है।

आशय यह है कि दोनों वाक्यों का अभिधा से भिन्न अर्थ सिद्ध होता है। उस अर्थ की प्रतीति लक्षणा से होती है।

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

अनुवाद—अभिधा और लक्षणा के विरत [शान्त] हो जाने पर [अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर] जो एक अन्य अर्थ निकलता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं तथा जिस वृत्ति या शक्ति के द्वारा यह अर्थ प्राप्त होता है, उसे व्यंजना वृत्ति [शक्ति] कहते हैं।

भाव यह है कि जब अभिधाशक्ति शब्द का अर्थ बतलाने में असमर्थ हो जाती है, तब लक्षणा का व्यापार आरम्भ होता है, किन्तु कुछ ऐसे अर्थ भी होते हैं जिनकी प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती है। इस अर्थ की प्रतीति का कार्य व्यंजना वृत्ति करती है।

इस तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अभिधेयार्थ शाब्दिक अर्थ है, लक्ष्यार्थ सूचित किया जाता है या लक्षित होता है पर व्यंग्यार्थ का तो ध्वनन ही सम्भव हुआ करता है। जैसे कि घण्टा बजाने के बाद जो आवाज सुनाई पड़ती है, वह अभिधेयार्थ है, जो उसका अनुरणन सुनाई पड़ता है वह व्यंग्यार्थ है तथा सबसे अन्त में जो एक गूँज की अनुभूति होती है, वह व्यंग्यार्थ है।

व्यंजना को उदाहरण के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—**"गंगायां घोषः"** गंगा में घोष की स्थियि सम्भव नहीं है, अतः लक्षणा से यह आशय निकला कि 'गंगा के तट पर गाँव है।' कोई एक शक्ति एक अर्थ से अधिक व्यक्त नहीं कर सकती है। अतः वक्ता के अभिप्राय—गाँव की पवित्रता एवं शीतलता को व्यक्त करने के लिए तीसरी शक्ति की कल्पना नितान्त आवश्यक है, और तीसरा अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार "गंगायां घोषः" इस उदाहरण में शीतलता और पवित्रता की प्रतीति व्यंजना से ही सम्भव है।

———

तृतीय परिच्छेद

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥

आचार्य विश्वनाथ—'कोऽयं रस इत्युच्यते' लिखकर रस का स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं। वाक्यं रसात्मकं काव्यम् इस काव्य के लक्षण में विश्वनाथ ने रस की प्रतिष्ठा की है। यह रस क्या है—सहृदयों के हृदय में वासना रूप से विराजमान 'रति', 'हास', 'शोक' आदि स्थायी भाव हैं, यह स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारी [व्यभिचारी] भावों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर 'रस' रूप में परिणत हो जाते हैं।

भाव यह है कि संसार में रति, हास, कोध आदि चित्तवृत्तियों के उदय, विकास और तिरोभाव होने के अनेक कारण, कार्य और सहायक कारण होते हैं। साहित्य में इन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के संयोग से स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।" जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध समाविष्ट रहती है, उसी प्रकार हमारे हृदय में वासनात्मक संस्कार सुप्त रूप में पड़े रहते हैं, जल सिञ्चन द्वारा जिस प्रकार पृथ्वी की गन्ध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विभावादि का संयोग प्राप्त होते ही हमारे वासनात्मक संस्कार उद्बुद्ध होकर चमत्कृत आनन्द उत्पन्न कर देते हैं—इसी आनन्द का नाम 'रस' है।

इसी तथ्य को विश्वनाथ ने इस प्रकार प्रकट किया है—

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्विक काश्चानुभाव रूपत्वान्न पृथगुक्ता। व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रुपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः न तु दीपेन घट इव पूर्व सिद्धो व्यज्यते।

'विभाव' आदि का आगे निरूपण किया जायगा। प्राचीन आचार्यों के अनुसार स्तम्भ, स्वेद आदि सात्विक भाव भी रस की अभिव्यक्ति के हेतु माने गये हैं किन्तु यहाँ सात्विक भाव रसाभिव्यक्ति के हेतु रूप में पृथक् नहीं कहे गये हैं क्योंकि ये वस्तुतः अनुमान तुल्य ही हैं। 'व्यक्तः' का अभिप्राय यह है कि जैसे 'पहले से अवस्थित वस्तु है विभावादि प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त कर दिया करते हैं।

तदुक्तम् 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति अस्त स्वरूपकथनगर्भ आस्वादन प्रकारः कथ्यते।

ऐसा कहा जाता है कि रस अवस्था प्रतिपादन परमभाव—स्थायीभाव द्वारा ही होता है, अतः इसके स्वरूप कथन के अन्तर्गत उसके अस्वादन के प्रकार को भी कहा जा रहा है।

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

आचार्य विश्वनाथ रस के आस्वाद का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मानव मन में तमोगुण एवं रजोगुण को दबाकर सत्वगुण का उद्रेक एवं प्रावल्य होने पर ही रस का यथार्थ अनुभव या साक्षात्कार अथवा आस्वाद होता है। यह रसानुभव सत्व के उद्रेक के कारण अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाशमान, आनन्द स्वरूप एवं चिन्मय होता है। रस के अनुभव के समय अन्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता अर्थात् रसास्वाद के समय विषयान्तर के ज्ञान का अभाव होता है [वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो]। इसलिए यह ब्रह्मानन्द सहोदर है अर्थात् ब्रह्म के साक्षात्कार से मिलने वाले आनन्द के समान होता है।

द्वितीय कारिका में रसास्वाद के पात्रों व अधिकारियों पर विचार करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि रस अलौकिक चमत्कार का प्राण है, उसका आस्वाद करने वाले विरले सहृदय ही होते हैं जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य के कारण काव्यानुशीलन करने के संस्कार रहते हैं। वह अपने स्वरूप की तरह इसका अभिन्न रूप से आस्वाद ग्रहण करता है।

विश्वनाथ के द्वारा वर्णित रस स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए रस के विशेषण पदों की व्याख्या अपेक्षित है—

(१) **सत्वोद्रेकात्**—सत्व को स्पष्ट करते हुए प्राचीन आचार्य ने लिखा है कि—

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।"

अर्थात्—रज एवं तम नामक गुणों की वृत्तियों के प्रभाव से मुक्त मन को ही सत्व कहते हैं। 'उद्रेक' का अर्थ है 'ऊपर उठाना'। अतः सत्वोद्रेकात् का अर्थ है—रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्व का उन्नयन।

(२) **अखण्ड**—अखण्ड से हमारा आशय यह है कि इसमें विभाव अनुभाव स्थायी और संचारी आदि भावों की पृथव-पृथक खण्डशः अनुभूति नहीं होती है अपितु सभी की समन्वित अखण्ड अनुभूति होती है। इस अनुभूति में परिमाण का भेद भी नहीं होता है।

(३) **स्वयं प्रकाश**—रस के प्रकाशमय होने से आशय यह है कि रस एक बार आस्वाद्यमान होने के बाद स्वयं प्रकाशित होता रहता है। इसको किसी अन्य सहायक की आवश्यकता नहीं होती है।

(४) **आनन्दमय**—रस सदा ही आनन्दमय होता है। भवभूति के उत्तरराम चरित्र से भी आनन्द ही मिलता है, अश्रुपात आदि के उद्रेक के कारण हृदयस्थ स्थायी भाव का ही उन्मेष होता है। इसीलिए विश्वनाथ ने लिखा भी है—

करुणा दावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषां यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।

चिन्मय—रसानुभूति चिन्मय और बुद्धि पूर्वक होती है क्योंकि रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। अतः रसानुभूति में ऐन्द्रिकता नहीं होती है।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्य—रसास्वाद स्पर्शशून्य होता है रसानुभूति में व्यक्ति इतना तन्मय हो जाता है कि उसे दीन दुनिया का ध्यान नहीं रहता। अतः कह सकते हैं कि इस आनन्द की समता अन्य कोई आनन्द नहीं कर सकता है।

ब्रह्मास्वादसहोदर—रस ब्रह्मास्वाद सहोदर भी है। ठीक ब्रह्मानन्द तो नहीं है, उसके समान है, अतः ब्रह्मास्वाद सहोदर है। जिस प्रकार ब्रह्म पूर्णतः ज्ञात नहीं है। अनिर्वचनीय है उसी प्रकार रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, और ज्ञाप्य और कार्य भी हो सकता है। वह न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न निर्विकल्पक ज्ञान है और न सविकल्पक ही। अतः किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न होने के कारण वह अनिर्वचनीय है, अलौकिक है और ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

लोकोत्तर चमत्कार प्राण—रस की एक विशेषता यह है कि रस का आनन्द चमत्कार पूर्ण है। यद्यपि विश्वनाथ ने इस सत्य को अधिक महत्व दिया है किन्तु इतना तो अवश्य है कि चमत्कार का काव्यानन्द में योगदान रहता ही है क्योंकि चित्तवृत्ति की एक विशेषता यह है कि सुन्दर वस्तु को देखकर उसमें आनन्द एवं विस्मय की समन्वित भावना का उदय होता है। जिस रस में आस्वादयिता को आनन्द विभोर करने की क्षमता न हो वह 'रस' ही नहीं। यह चमत्कार लोकोत्तर या अलौकिक (लौकिक भोगों से प्राप्य आनन्द चमत्कार से भिन्न) होता है।

कैश्चित्प्रमातृभिः—इस शब्द का आशय सहृदयव्यायिक्तों से है। जिनके संस्कारपूर्ण हृदय में रत्यादि स्थायीभाव जन्म-जन्मान्तर से चलते रहने वाली वासनाओं के रूप में सदा स्थित रहते हैं, ऐसे सहृदय ही रसानुभूति का आनन्द लेते हैं। इसीलिए रस को सहृदय संवेद्य कहा जाता है।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनः—रसानुभूति के समय आस्वाद्यमान रस एवं आस्वादयिता में कोई अन्तर नहीं रहता है वह रसमय हो जाता है।

उपर्युक्त समस्त विशेषतायें रस एवं रसानुभूति की प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। इन सभी का उपर्युक्त कारिकाओं में आचार्य विश्वनाथ ने उल्लेख किया है।

ननु तर्हि करुणादीनां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादि त्युच्यते करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।।

व्याख्या—आचार्य विश्वनाथ करुण रस आदि में भी आनन्दानुभव का प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—करुणा आदि रस जो कि दुःखमय प्रतीत होते हैं, वे रस क्यों कहे जा सकते हैं, इस शंका का समाधान करते हुए वे कहते हैं—कि "करुणा आदि रसों में भी जो आनन्द प्राप्त होता है, उसमें एक प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदयों का अनुभव है। और यदि करुणा आदि रसों में दुःख का अनुभव होता तो सहृदयजन करुणात्मक काव्य नाट्य के प्रति कभी उन्मुख न होते।"

कारिका में आदि शब्द का प्रयोग हुआ है आदि शब्द से आचार्य करुण के अतिरिक्त वीभत्स भयानक आदि रसों को भी ग्रहण करते हैं—**आदि शब्दाद्वीभत्सभयानकादयः ।**

नहि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्ति दर्शनात् सुखमयत्वमेव ।

अनुवाद—ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा, जो स्वयं अपने दुःख के लिए लालायित हो, किन्तु करुणादि रसातमक काव्य नाट्य के प्रति सभी बड़े मनोयोग पूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि करुणादि रस आनन्द रूप ही होते हैं।

तथा रामायणादीनां भविता दुःख हेतुता ।
हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।।
शोक हर्षादयो लोके जायन्तां नामलौकिकाः ।
अलौकिक विभावत्व प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेऽभ्योऽपीति का क्षतिः ।
अश्रुपातादयरतद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ।।

अनुवाद—करुण रस को दुःखात्मक मानने पर अनेक असंगतियाँ उत्पन्न होंगी, इसका प्रतिपादन करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं कि—

"करुण रस को यदि दुःख का हेतु माना जाएगा तो करुण रस प्रधान रामायण आदि ग्रन्थ भी दुःख के हेतु मानने होंगे, किन्तु यथार्थतः ऐसा होता नहीं है—"लोक जीवन के संपर्क के कारण भले ही लोक में शोक और हर्ष आदि के जो भी कारण हों, उनसे लौकिक शोक और हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करें, किन्तु जब कि काव्य (अथवा कला) के सम्बन्ध से यही शोक और हर्ष आदि के कारण, काव्य में अलौकिक विभाव आदि रूप में परिणत होकर आनन्द उत्पन्न करते हैं तो इसमें आपत्ति क्यों कर हो।"

यहाँ यह शंका भी निर्मूल हो जाती है कि अश्रुपातादि के कारण को आनन्दात्मक नहीं माना जा सकता है—

"करुण रस के आस्वादन से जो अश्रुपातादि होते हैं उनका कारण करुण रस का दुःखात्मक स्वरूप होकर हृदय की द्रवणशीलता है। यह द्रवणशीलता आनन्द में भी प्राप्त होती है।" अतः करुण रस को दुःखात्मक नहीं माना जा सकता है।

इसी तथ्य की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने टिप्पणी में लिखा है—

ये खलु वनवासादयो लोके दुःखकारणानि इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्य-समर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यत्वं विहायालौकिकविभाव-शब्दवाच्यत्वं भजन्ते। अतश्च लौकिकशोकहर्षादि कारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः सर्वेऽभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।

अनुवाद—जो संसार में वनवास आदि दुःख के कारण कहलाते हैं काव्य-नाट्य में प्रयुक्त होने पर ये दुःख के कारण अलौकिक विभावन व्यापार परक होने के कारण अपनी 'कारणशब्द वाच्यता' का परित्याग कर अलौकिक विभाव की वाच्यता को धारण कर लेते हैं। आशय यह है कि इन्हीं लौकिक कारणों को काव्य में विभाव कहते हैं। अतः लौकिक शोक, हर्ष आदि के कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि ही उत्पन्न होते हैं, यह संसार में ही नियम है। काव्य-संसार में ऐसा नहीं होता है। काव्य में तो समस्त विभाव आदि से सुख ही उत्पन्न होता है, इस नियम में कोई दोष नहीं है। अतः कह सकते हैं कि काव्य में वर्णित विभावादि लौकिक जगत् के कारणों से भिन्न और विलक्षण होते हैं।

इस प्रसङ्ग में आचार्य विश्वनाथ ने एक प्रश्न यह भी प्रस्तुत किया है कि—आनान्दात्मक अनुभूति सभी को क्यों नहीं होती है। इसका समाधान करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
उक्तं च धर्मदत्तेन—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥

अनुवाद—रत्यादि मनोभावों की वासना [विशिष्ट संस्कार] के बिना रसास्वाद नहीं हो सकता। इसीलिए धर्मदत्त ने लिखा है कि—"वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासना रहित पुरुष तो नाट्यशाला में लक्कड़ दीवार और पत्थरों के समान ही पड़े रहते हैं।" अर्थात् वासना से रहित मानव तो निर्जीव ही है।

इस कारिका का सार यह है कि वासनात्मक संसार के बिना रस का आस्वाद सम्भव नहीं है। इस प्रकार करुण रस का आस्वाद आनन्दात्मक है। इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह की आवश्यकता नहीं है।

ननु तथापि कथमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ।।

अनुवाद—फिर भी इन विभाव आदि को अलौकिक कहा जाता है—

विभावन आदि व्यापारों को अलौकिक ही मानना उचित है, यह अलौकिकत्व इन विभावों का भूषण (सौन्दर्य) है दूषण (दोष) नहीं है।

विभाव वर्णन :

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यो तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
आलम्बनो नायकादिस्त मालम्ब्य रसोद्गमात् ।।
उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देश कालादयस्तथा ।।

आचार्य विश्वनाथ इन कारिकाओं के द्वारा विभाव आदि का विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर रहे हैं—

विभाव और उनके भेद—लोक जीवन में राम आदि के रत्यादि भावों के उद्बोध के जो कारण हैं [उदाहरणतः सीता आदि] वे ही काव्य-नाट्य में 'विभाव' कहे जाते हैं [वस्तुतः विभावों के द्वारा ही सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में विराजमान रत्यादि भाव इस योग्य बनाये जाते हैं कि उनसे आनन्दानुभूति हो सके]। यह विभाव दो प्रकार के होते हैं—एक आलम्बन और दूसरा उद्दीपन।

आलम्बन—नायक आदि अर्थात् नायिका प्रतिनायक को आलम्बन विभाव कहते हैं, क्योंकि इनके आश्रय से रस का उद्भाव होता है।

उद्दीपन विभाव—उन्हें कहा जाता है—जो रस को उद्दीप्त करते हैं। रस को उद्दीप्त करने वालों में नायक और नायिका की चेष्टायें, उचित स्थान तथा उपयुक्त समय अर्थात् चन्द्रमा, चांदनी, कोयल की कूक आदि।

अनुभाव :

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्योः ।।

यः खलु लोके सीताचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्योः पुनरनुभावः ।

अनुवाद—लोक में उन कारणों (आलम्बन उद्दीपन) से उद्बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को प्रकट करने वाला अथवा उन्हीं रति आदि भावों का जो कार्य है, वही काव्य-नाट्य में अनुभाव कहलाता है।

भावों की अभिव्यक्ति की सूचना देने के कारण इन्हें अनुभाव कहा जाता है।

यह अभिव्यक्ति शरीर की प्रतिक्रिया, वचनोद्गार, हर्ष विषाद के रूप में मानस उद्वेलन और कृत्रिम वेशभूषा के रूप में हो सकती है ।

"भाव यह है कि लोक में सीता आदि आलम्बन कारण तथा चन्द्र, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण से राम आदि हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रगट करने वाला उन्हीं रत्यादि भावों का जो कार्य होता है, वही काव्य-नाटय में समाहित होने पर अनुभाव कहलाता है ।"

व्यभिचारी भाव :

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ।

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भाव तिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

व्यभिचारिभाव का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—

अनुवाद — विशेष रूप से मुख्य रस हेतु स्थायीभावों की ओर संचरण करने के कारण ये व्यभिचारिभाव कहलाते हैं, यह स्थाई रूप में विद्यमान स्थायिभावों में सदैव आविभूत-तिरोभूंत (डूबते-उतराते) होते रहते हैं । इनकी संख्या तैंतीस है ।

आशय यह है कि स्थिर रूप से रहने वाले रत्यादि स्थायी भावों से आविर्भूत होने अथवा इन्हीं में तिरोभूत होने के कारण, इनके सहायक रूप से रहने वाले निर्वेद, आवेग, गर्व आदि भाव ऐसे हैं, जो व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

स्थायी भाव :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ।।

इस कारिका में आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी भाव का स्वरूप बतलाया है, उनके अनुसार स्थायी भाव में निम्न विशेषताएँ होती हैं—अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव जिसे दबा (छिपा) न सकें, वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी है । भाव यह है कि अनुकूल अथवा प्रतिकूल कोई भाव जिसे प्रभावित नहीं कर सकते, वह स्थायी भाव होता है ।

आचार्य धनंजय के अनुसार स्थायी भाव का स्वरूप इस प्रकार है—"जो भाव विरोधी और अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को अपने में शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है । उसकी स्थिति समुद्र के समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओं को नमकीन बना देता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थाती लवणाकरः ।।

वस्तुतः स्थायी भाव में तीन विशेषताएं होती हैं—

आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व और सर्वजनसुलभत्व ।

आचार्य विश्वनाथ ने अन्य आचार्य की कारिका का उद्धरण देते हुए लिखा है कि—"स्थायी भाव ऐसा होता है जो कि माला के फूलों में सूत की भांति अन्य सभी भावों में अनुगत रहा करता है और जिसे अन्य भाव दबाते नहीं, परिपुष्ट ही किया करते हैं"—

स्रक् सूत्रवृत्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥

स्थायीभाव के भेद :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच ॥

अर्थात—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय यह आठ एवं शम नामक नौ स्थायी भाव हैं ।

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणयितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते ।
इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोक शब्द भाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोधः इष्यते ।
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रोदशक्त्या तु जनितं चित्त वैक्लव्ययं भयम् ।
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोक सीमातिवर्तिषु ।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥

अनुवाद—मन के अनुकूल वस्तु में मन का रमना 'रति' नामक स्थायी भाव है । वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना **'हास'** है । इष्टनाशादि के कारण चित्त की विकलता **'शोक'** है । प्रतिकूल अर्थात् शत्रुओं के विषय में चित्त की कटुता का उद्‌बोध **'क्रोध'** है । कार्यारम्भ के प्रति चित्त में स्थिर आवेश या संरम्भ **'उत्साह'** है । किसी भयानक वस्तु की शक्ति या भयंकरता से उत्पन्न चित्त को व्याकुल बनने का भाव **'भय'** कहा जाता है । किसी वस्तु के प्रति उसमें दोष-दर्शन आदि से उत्पन्न घृणा भाव **'जुगुप्सा'** है । लोक सीमा से अतिक्रान्त अलौकिक सामर्थ्य वाली वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न चित्त का विस्तार **'विस्मय'** नामक स्थायी भाव है। निस्पृह अथवा वीतराग होने की स्थिति में अपने आप में रमण करने वाले [आत्म लीन] मन के सुख का नाम **'शम'** है ।

———

चतुर्थ परिच्छेद

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधामतम् ।

आचार्य विश्वनाथ काव्य के भेदों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि काव्य के दो प्रकार हैं—ध्वनि काव्य और गुणीभूतव्यंग्यं काव्य ।

यत्र :

वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।

वाच्यादधिक चमत्कारिणिव्यग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

अनुवाद—काव्य का प्रथम प्रकार ध्वनि काव्य है,—ध्वनि वह काव्य है जिस में व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होता है । यह ध्वनि नामक काव्य—'उत्तम काव्य' है ।

वाच्य की अपेक्षा व्यंग अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति ध्वन्यतेऽस्मिन् [जिसमें रमणीय अर्थ ध्वनति होता है] है, इस व्युत्पति से सिद्ध है कि 'ध्वनि' काव्य उत्तम काव्य है । क्योंकि इसी काव्य में वह अर्थ अभिव्यंजित होता है, जो वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कार जनक होता है ।

अथगुणीभूतव्यंग्यम् :

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च सम्भवति ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि—

अनुवाद—दूसरे प्रकार का काव्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य है—इस काव्य में व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ समान रूप से चमत्कार जनक होता (जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं होता है) ।

यहाँ अपरं का अभिप्राय दूसरे प्रकार के काव्य का है । वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ की अनुत्तमता का अभिप्राय व्यङ्ग्य अर्थ की [चमत्कार की दृष्टि से] न्यूनता अथवा साम्य का है ।

चित्रकाव्य :

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ।

तदाहु :

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् । इति तन्न । हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति । ईषद् व्यङ्ग्त्वमितिचेत्, किं नामेषद् व्यङ्ग्त्वम् । अस्वाद्य व्यंग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा । आद्ये प्राचीन भेदयोरेवान्तः

पातः । द्वितीयत्व काव्यत्वम् । यदि चानास्वाद्यत्वं तद । क्षुद्रत्वमेव । क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात् ।

अनुवाद—कुछ आचार्य 'चित्र' नामक एक तीसरा काव्य का भेद भी मानते हैं।

जैसा कि आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में लिखा है—अवर अथवा अधम काव्य में व्यंग्यार्थ का पूर्णतः अभाव ही रहता है तथा शाब्दिक चमत्कार की छटा पाठक को चमत्कृत करती है। वह दो प्रकार का होता है—शब्द चित्र एवं अर्थ चित्र यह ठीक नहीं है। "अव्यङ्ग्य पद से यदि यह तात्पर्य है कि व्यङ्ग्यार्थ से एकदम शून्य हो, तब तो वह काव्य ही नहीं हो सकता........यदि ईषद अर्थ में 'निज' का प्रयोग मानकर 'अव्यङ्ग्य' पद का अर्थ 'ईषद् व्यंग्य' माना जाय तो प्रश्न यह है कि इस पद का क्या तात्पर्य है ? क्या आस्वाद्य वस्तु के थोड़े व्यंग्य होने पर 'ईषद् व्यंग्यत्व' विवक्षित है ? अथवा अनास्वाद्य वस्तु के व्यंग्य होने पर ? यदि पहला पक्ष मानो तब तो पहले दो भेदों (ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य) में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है और यदि दूसरा पक्ष (अनास्वाद्य व्यंग्यत्व) मानो तो वह काव्य ही नहीं हो सकता, क्योंकि आस्वाद्य ही काव्य होता है। यदि अनास्वाद्य है तो क्षुद्रता होने पर ही अनास्वाद्यत्व हुआ करता है।"

समीक्षा—काव्य के भेद और प्रभेदों की चर्चा काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व एवं ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के अनन्तर किये गये वर्गीकरणों में अन्तर है। ध्वनिपूर्व युग के आचार्यों की दृष्टि बहिरङ्ग पर रही है। तथा परवर्ती आचार्यों की दृष्टि अन्तरङ्ग पर।

काव्य स्वरूप के निर्धारण में बाह्य उपादानों की प्रधानता के कारण काव्य-विभाजन के मुख्य आधार भाषा, शैली छन्द गद्य आदि रहे हैं। अतः भाषा के आधार पर—संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश तीन काव्य के भेद माने गये हैं। काव्य के बन्ध के आधार पर गद्य-पद्य और चम्पू नामक भेद किये गये हैं। यही नहीं, स्वरूप विधान के आधार पर महा काव्य, खण्ड काव्य, रूपक, आख्यायिका और मुक्तक भी काव्य के ही भेद हैं। विषय के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं—ख्यातवृत्त, कल्पित, कलाश्रित और शास्त्राश्रित।

ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद इन सभी काव्यभेदों का महत्व गौण हो गया और ध्वनि-व्यंग्य के आधार पर काव्य के तीन भेद निश्चित हुए—उत्तम, मध्यम और अधम काव्य। यद्यपि आनन्दवर्धन ने मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थम्, आख्यायिका, कथा आदि काव्य भेदों का भी उल्लेख किया था किन्तु उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम काव्य का विस्तार से विवेचन (ध्वन्यालोक ३।४२-४३) किया है। उनके अनुसार।

"इस प्रकार व्यंग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर वे दोनों (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य) काव्य होते हैं। और उनसे भिन्न जो (काव्य रह जाता) है उसे चित्र काव्य कहते हैं।

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र काव्य दो प्रकार का होता है। इनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं और उनसे भिन्न अर्थ चित्र कहलाते हैं।"

आनन्द वर्धन के आधार पर मम्मट ने भी इन्हीं तीन काव्य भेदों को स्वीकार किया है। मम्मट के वाद राजानक रुय्यक विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य के भेदों का विवेचन किया है।

डा० राजवंश सहाय 'हीरा' ने विश्वनाथ के दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए लिखा है—"मम्मट के श्रेणी-विभाजन का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में काव्य की केवल दो ही कोटियाँ स्वीकृत कीं। इन्होंने उत्तम एवं मध्यम काव्य की संज्ञा न देकर ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य का ही उल्लेख किया है। उन्होंने उत्कृष्ट व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य को ध्वनि या उत्तम काव्य माना है एवं व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में समान चमत्कार होने पर उसे गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य स्वीकार किया। उन्होंने मम्मट के अधम काव्य को मान्यता नहीं दी।........विश्वनाथ ने चित्रकाव्य ही नहीं माना क्योंकि व्यंग्य रहित पद्य काव्य नहीं हो सकता है। यहाँ विश्वनाथ में 'वदतो व्याघात' दोष दिखाई पड़ता है। एक ओर तो वे चित्र काव्य की स्थिति पर प्रश्न वाचक चिन्ह लगा देते हैं और दूसरी ओर 'दशम परिच्छेद' में अलंकारों का विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। विश्वनाथ ने मम्मट का खण्डन तो किया अवश्य किन्तु इस धारणा की पीठिका में स्थित ध्वनिकार की मान्यताओं पर दृष्टि नहीं डाली। ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चित्र काव्य में व्यंग्य का संस्पर्श रहता है और उसी के ही आधार पर उसे काव्य कहा जाता है। उसमें रसादि के प्रति आकर्षण न होकर शब्दार्थ का ही चमत्कार प्रधान होता है।"

इस प्रसंग में डा० भोला शंकर व्यास का मन्तव्य भी दृष्टव्य है—

"वस्तुतः चित्र काव्य जैसा अधम काव्य अवश्य होता है। यदि इस कोटि को न माना जायगा तो कवि सम्प्रदाय जिस अलंकार युक्त काव्य को मानता है, उसे अकाव्य मानना होगा।"

यदि विश्वनाथ का ही श्रेणी विभाजन माना जाय तो क्यों न काव्य एक प्रकार का मान लिया जाय। जिसमें व्यंग्यार्थ हो वह काव्य तथा जिसमें व्यंग्यार्थ न हो वह अकाव्य। यह श्रेणी विभाजन सुगम भी होगा और बोध गम्य भी किन्तु, इस श्रेणी विभाजन के स्वीकार करने पर काव्यगत सौन्दर्य के तारतम्य का पता न चल सकेगा, जो कि काव्यशास्त्र के अनुशीलनकर्त्ता के लिए आवश्यक है। अतः चारुत्व के तारतम्य को जानने के लिए सूक्ष्म श्रेणी विभाजन करना ही होगा।

---

१. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३३७।

पंचम परिच्छेद

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणानाम् ।
अगीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ।।

व्यंजना नामक नवीन वृत्ति कौन सी है, इसके विषय में विचार करते हुए साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने लिखा है—

अनुवाद—अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या नामक वृत्तियों के द्वारा अपना कार्य कर निवृत्त हो जाने पर अभिनव अर्थ को व्यक्त करने वाली वृत्ति का नाम व्यंजना है, इसके द्वारा रस आदि का बोध होता है, अतः इस चौथी वृत्ति का मानना अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—सङ्केतितार्थ का बोध करा कर अभिधा शान्त हो जाती है, वह वस्तु, अलंकार, रसावबोध नहीं करा पाती। अभिहितान्वय वादियों की तात्पर्यावृत्ति अन्वय मात्र का बोध करा कर शान्त हो जाती है। लक्षणा भी रूढ़ि अथवा प्रयोजन के द्वारा लक्षित अर्थ को व्यक्त कर शान्त हो जाती है, इस प्रकार इन तीनों वृत्तियों के शान्त हो जाने पर व्यंग्यार्थ (रस) का बोध कराने के लिए एक चौथी वृत्ति का मानना आवश्यक है। वह वृत्ति व्यंजना ही हो सकती है।

साहित्य शास्त्र की प्रमुख समस्या रसास्वाद है, इस रसास्वाद को कराने वाली वृत्ति व्यंजना ही है क्योंकि यह व्यंग्यार्थ प्रधान है, जिसमें मुख्यार्थ का बोध होता है, तथा जिसकी वक्रोक्तियाँ अनिवार्य तत्व हैं। ऐसी व्यंजना वृत्ति एक नवीन शैली है—

व्यंजना ही वास्तविक अर्थ की अनुभूति में सहयोग देती है। अभिधा और लक्षणा गूढ़ार्थ की प्रतीति नहीं करा पाती है। उदाहरण के लिए **"गंगायां घोषः"**, को लिया जा सकता है। गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा से यह आशय निकला कि गंगा के तट पर गाँव है। एक शक्ति एक ही अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है। अतः वक्ता के अभिप्राय गाँव की पवित्रता, वातावरण की शीतलता और मनोहारिता को व्यक्त करने के लिए अन्य शक्ति की आवश्यकता है, वह व्यंजना ही है—**"गंगायां घोषः"** के उदाहरण में शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यंजना से ही सम्भव है।

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधन विरताया न वस्वत्वलंकार रसादि व्यंग्य बोधने क्षमत्वम्। न च संकेतितो रसादिः। नहि विभावाद्यभिधानमेव तदभिधानम्, तस्य तदैकरूप्यानंगीकारात् यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति।

अभिधा व्यंग्यार्थ की प्रतीति में समर्थ नहीं है, इसका विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है—

अनुवाद—"अभिधा केवल संकेतित अर्थ का बोध कराकर शान्त हो जाती है, अतः वह वस्तु, अलंकार और रसादि रूप व्यंग्य के बोधन में समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त सरस काव्य में विभादि का ही वर्णन होता है, उन विभावादिकों के वाचक शब्दों का रस में संकेतग्रह नहीं होता है। स्व पद वाच्य होने पर शृंगार आदि पद दोष पूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं, विभावादि का कथन भी रसादि का कथन नहीं होता है क्योंकि रसादिक और विभावादिकों को एक नहीं माना जाता। वस्तुतः रस और विभावादि परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हैं।

गङ्गायां घोषः इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्व पावनत्वादि व्यंग्यबोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरूपास्यैवेति निर्विवादमेतत्।

अनुवाद—लक्षणा के द्वारा व्यंग्य अर्थ की अनुभूति सम्भव नहीं है, क्योंकि "गङ्गायां घोषः" (गंगा में गांव है) आदि उदाहरणों में लक्षणाशक्ति केवल तटादि रूप अर्थ का बोध करके शान्त हो जाती है, फिर उससे शीतलत्व-पावनत्व आदि व्यंग्य अर्थ का बोध कैसे हो सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता, अतः चौथी वृत्ति की अपरिहार्य आवश्यकता है।

प्रागसत्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे।
किं च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा॥

रसानुभूति के लिए व्यंजना की नितान्त आवश्यकता है, लक्षणा व्यंजना के कार्य को नहीं कर सकती है, इसका प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि—

अनुवाद—शब्द व्यापार से पूर्व रसादिकों की सत्ता नहीं होती है अतः लक्षणा और अभिधा रस का बोध नहीं करा सकती। अभिधा और लक्षणा से पूर्व विद्यमान वस्तु का ज्ञान होता है। गंगा और उसका तट पूर्व सिद्ध है, अतः "गङ्गायां घोषः" में गङ्गा पद अभिधा से प्रवाह और लक्षणा से तट का ज्ञान कराता है। असिद्ध वस्तु में लक्षणा और अभिधा की गति नहीं होती है। रसन (आस्वादन) व्यापार से भिन्न रस पद का प्रतिपाद्य कोई पदार्थ प्रमाण सिद्ध नहीं है, जिसे लक्षणा और अभिधा शक्ति बोधित कर सकें।

आशय यह है कि अभिधा और लक्षणा संकेतित अर्थ की अपेक्षा करती है किन्तु उसका पूर्व सिद्ध रहना आवश्यक नहीं है। अभिधा के द्वारा रसादि का बोध इसी कारण नहीं होता है कि रस के व्यंजक पदों का संकेत उस रस में नहीं होता है। **"शून्यंवास गृहम्"** इत्यादिक शब्द शृंगार रस में संकेतिक नहीं है। यहाँ "प्रागसत्व" प्रयोजक नहीं है। 'गंगाया घोषः' में लक्षणा भी प्रागसत्—असिद्ध वस्तु में प्रवृत्त होती है।

इसके अतिरिक्त रस प्रतीत स्थल में मुख्यार्थ का बाध भी नियत नहीं है। इस कारण भी लक्षणा के द्वारा रस की प्रतीति सम्भव नहीं है।

नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृति र्न च रसादि धीः॥

अनुमानवादी महिम भट्ट ने अनुमिति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानकर व्यंजना का खण्डन किया है। इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है—

अनुवाद—"अनुमान अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञान अथवा अनुमिति से, रसादि रूप व्यंग्य अर्थ का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि अनुमान में सत् हेतु होना चाहिए और व्यंग्य अर्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु प्रस्तुत किये जाते हैं, वे सब आभास अर्थात् हेत्वाभास हैं। हेतुओं के असत् होने के कारण ही रसादि की अनुभूति भी नहीं कह सकते हैं।" आशय यह है कि अनुमिति से रसादि की अनुभूति सम्भव नहीं है।

सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥

रसानुभूति को कराने वाली वृत्ति का क्या नाम है, इस जिज्ञासा के होने पर आचार्य विश्वनाथ इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए लिख रहे हैं—

अनुवाद—वह विद्वानों के द्वारा व्यंजना नामक वृत्ति कही जाती है। तथा दूसरे विद्वान रसास्वाद (रसाभिव्यक्ति) की दृष्टि से (**रसना**) नामक वृत्ति भी इसे कहते हैं।

———

षष्ठ परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद के महत्त्वपूर्ण स्थलों को प्रश्नोत्तरी के पृष्ठ संख्या ११६ से १५३ तक सानुवाद देखें।

पृष्ठों का विषयनुसार संकेत इस प्रकार है—

नाटक १२१, प्रकरण १२४, भाण, १२४, व्यायोग १२५, समवकार १२५; डिम १२६, ईहामृग १२७, अङ्क १२७, वीथी १२८, प्रहसन १२८, महानाटक १२६, नाटिका १३०, नान्दी १३०, स्थापना १३१, कैशिकी वृत्ति १३२, सात्वती वृत्ति १३२; आरभटी १३३, नाट्योक्ति १३३, अंक १३५, गर्भांक १३६, महाकाव्य १४८, खण्ड-काव्य १५०, कथा १५२, आख्यायिका १५३, इन तत्वों का अनुवाद सहित विवेचन पृष्ठानुसार देखा जा सकता है।

———

सप्तम परिच्छेद

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभाव विभावयोः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदो तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।
अङ्गिनो ऽननुसन्धामनङ्गस्य च कीर्तनम् ।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥

उपर्युक्त कारिकाओं में आचार्य विश्वनाथ रस दोषों का परिगणन कर रहे हैं । तदनुसार रस दोष के निम्न स्थल हैं—

अनुवाद—"किसी रस का उसके वाचक पद के द्वारा कथन अर्थात् सामान्य वाचक 'रस' शब्द से या किसी विशेष वाचक श्रृंगारादि से कथन करना, एवं स्थायी भाव, और संचारी भावों का उनके वाचक पदों से अभिधान करना, विरोधी रस के अंगभूत विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन करना, विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का अनुचित स्थान में विस्तार करना या विच्छेद करना, बार-बार उसे दीप्त करना, प्रधान को विस्मृत कर देना, जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना, अंगभूत रस को अति विस्तृत करना, प्रकृतियों का उलट-पुलट करना, अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य का भंग करना ।

यह सभी रस दोष हैं ।

इन समस्त रस दोषों का सोदाहरण तथा अनुवाद सहित विवेचन पुस्तक के पृष्ठ संख्या १६४ पर देखें ।

———

अष्टम परिच्छेद

रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ।।

अनुवाद—इस कारिका के द्वारा गुणों का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं कि गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक केवल तीन हैं ।

जैसे शरीर में आत्मा ही प्रधान है और उसी के शौर्य आदि गुण कहलाते हैं, वैसे ही काव्य में रस ही अङ्गी है, प्रधान है और उसी के धर्मों का नाम गुण है । यह तीन हैं ।

यथा खल्वंगित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुण शब्द वाच्यास्तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः स्वरूप विशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपद सन्दर्भस्य काव्यव्यप देशस्यौपयिकानु गुण्यभाज इत्यर्थः ।

आचार्य विश्वनाथ ने गुण के स्वरूप का इस वृत्ति द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि—

अनुवाद—जिस प्रकार शरीर में अंगी अथवा प्रधान रूप से विद्यमान आत्मा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले शौर्य आदि को गुण कहा जाता है उसी प्रकार काव्य में अंगित्व अथवा प्राधान्य को प्राप्त रस के धर्म, अथवा स्वरूप विशेष माधुर्य आदि को भी 'गुण' कहते हैं । रस के धर्मभूत माधुर्य आदि गुण ही, वास्तव में अपने सम्पर्क अथवा व्यंजक पद सन्दर्भ को काव्य का नाम देने में समर्थ होते हैं ।

एषां गुणशब्दत्वं च गुणवृत्योच्यते बुधैः ।
शरीरस्य शौर्यादिगुण योग इव इतिशेषः ।।

गुण रस के धर्म हैं किन्तु इन्हें उपचार से—गौणीवृत्ति से शब्द का धर्म भी कहा जाता है—माधुर्यादि गुणों की शब्द तथा अर्थ में स्थिति केवल गौण रूप से ही विद्वानों ने स्वीकार की है । भाव यह है कि—माधुर्यादि को शब्द का गुण अथवा अर्थ का गुण लक्षणा से कहा जाता है, जिन आचार्यों ने ऐसे प्रयोग किये हैं, वह लक्षणा के प्रयोग हैं—जैसे शौर्य आत्मा का ही धर्म है परन्तु कभी-कभी **'आकार एवास्य शूर'** [इसके आकार में ही वीर भाव है] लक्षणा में कहा जाता है । इसी प्रकार रस के धर्म गुणों को भी काव्य के शरीर स्थानीय शब्द और अर्थ में स्थित कहा जाता है । तीनों गुणों का सोदाहरण विवेचन तथा अनुवाद पृष्ठ संख्या १७३ से १७५ तक देखें ।

———

नवम परिच्छेद

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ।।
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चालीलाटिका तथा ।।

अनुवाद—'पदों के मेल या संगठन का नाम रीति है । वह अंग संस्थान की तरह मानी जाती है । वह काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस भाव आदि की उपकारक होती है । वह चार प्रकार की होती है । वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली तथा लाटी ।

पदों की विशिष्ट रचना को रीति कहते हैं—"**विशिष्टा पदरचना रीतिः**" । यह रीति काव्य में शरीर के समान है । जिस प्रकार मानव शरीर का गठन होता है, उसी प्रकार काव्य के शरीर रूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है । जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीर रचना देखने में माधुर्य, सौकुमार्य, आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है, और उससे उस शरीरधारी के गुणों का ज्ञान होता है, इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्यादिगुणों का व्यंजन के द्वारा रसभाव आदि का उत्कर्ष होता है ।

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।

अनुवाद—माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा रचित समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं ।

व्याख्या—वैदर्भी रीति की रचना माधुर्यव्यंजक वर्णों से होती है, वर्णों में "ट, ठ, ड, ढ इन वर्णों को छोड़कर जो वर्ण आदि में अपने वर्ग के अन्तिम अक्षर—ञ, म, ङ, न से युक्त हों, वे और ह्रस्वस्वर से युक्त 'र' और 'ण' माधुर्य के व्यंजक होते हैं । इसी प्रकार समास रहित अथवा छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है ।"

उदाहरण—**अनङ्गमङ्गल भुवस्तदपाङ्गस्यः भङ्गयः ।**
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्तापसन्ततिम् ।।

इस श्लोक में ङ और ग का पूर्वार्ध में संयोग है और उत्तरार्ध में न तथा त का संयोग माधुर्यव्यंजक है और यह अल्प समास वाली रचना है ।

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी .... ।

अनुवाद—ओज को व्यक्त करने वाले कठिन वर्णों से निर्मित अधिक समासों से युक्त शब्दाडम्बरों से युक्त बन्ध को गौडी रीति कहते हैं।

कठोर वर्णों वाली तथा विकट बन्ध वाली ओजपूर्ण रचना गौडी रीति कहलाती है। पुरुषोत्तम ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"बहुत से समासों से व्याप्त, बड़े-बड़े महाप्राण प्रयत्न वाले अक्षरों से युक्त, अनुप्रास, यमक आदि शब्द महिमा के रक्षण में व्यग्र अर्थात् अधिकतर अनुप्रासादि से युक्त और थोड़े वाक्यों वाली रीति को गौडी कहते हैं—

उदाहरण—**चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात—**
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि—
रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः॥

यह श्लोक ओजगुण सम्पन्न, संयुक्ताक्षरों से पूर्ण तथा अन्य गौडीवृत्ति की विशेषताओं तथा वर्गों से युक्त है। अतः इस श्लोक में गौडी रीति स्पष्ट है।

अर्थ—"हे देवि! (द्रौपदि) चञ्चल भुजाओं से घुमायी गयी भीषण गदा के प्रहार से जिसकी दोनों जाघें चूरचूर (चकनाचूर) हो गई हैं, ऐसे दुर्योधन के जमे, लिपे और गाढ़े रक्त से लाल हाथों वाला यह भीम तुम्हारे केशों को अलंकृत करेगा—बाँधेगा।"

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मतः॥
द्वयोर्वैदर्भी गौड्योः।

व्याख्या—उपर्युक्त वैदर्भी एवं गौडी रीतियों से जो शेष वर्ण हैं, उनसे जो रचना रची जाय, और जिसमें पाँच-छः पदों का समास हो वह पाञ्चाली रीति कहलाती है।

वैदर्भी एवं गौडी रीति में क्रमशः माधुर्य व्यंजक तथा ओज व्यंजक वर्णों का प्रयोग होता है किन्तु पाञ्चाली में उन वर्णों का प्रयोग होता है, जो न तो माधुर्य-व्यंजक हैं और न ओज व्यंजक। इसमें छोटे-मोटे समास को भी स्वीकार किया जाता है। भोज ने इस रीति का यह लक्षण दिया है—"जिसमें पाँच-छः पदों का समास हो, ओज और कान्ति नामक गुण से जो युक्त हो और मधुर एवं सुकुमार हो उस रीति को कवि गण 'पांचाली' कहते हैं—

उदाहरण—**मधुरया मधुबोधितमाधवी—**
मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद—
ध्वनिभृता निभताक्षरमुज्जगे॥

इस रचना में न तो माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं और न ओजो व्यंजक वर्ण, उनसे

भिन्न यह रचना है, किन्तु मधुरता और सुकुमारता यहाँ विद्यमान है, इसमें पाँच-छः पदों के समास भी हैं, अतः यह श्लोक पाञ्चाली रीति का उदाहरण है।

अर्थ—"बसन्त से बोधित (खिलाई गई) माधवी (वासन्ती लता) की मधु समृद्धि (पुष्परस, की वृद्धि से अर्थात् माधवी के पुष्परस का पान करने से बढ़ गई है बुद्धि अथवा मस्ती जिसकी उस मस्त ध्वनि वाली, मधुर स्वर युक्त भ्रमरी ने बार-बार दबे हुए अक्षरों में गाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार गाना प्रारम्भ किया जिसमें अक्षर प्रतीत नहीं होते—केवल गुनगुनाहट ही सुनाई देती है।"

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता।

अनुवाद—वैदर्भी एवं 'पांचाली' इन दोनों रीतियों के मध्य की रीति लाटी है।

वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीति की अनेक विशेषताओं से युक्त रीति लाटी है। इसमें कुछ वैदर्भी की और कुछ पाञ्चाली रीति की विशेषताओं का समावेश रहता है। किसी एक अन्य काव्यशास्त्री ने इस रीति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"जो कोमल पदों और सुकुमार समासों से सुन्दर हो और बहुत से संयुक्त अक्षरों से युक्त न हो एवं समुचित विशेषणों के द्वारा जिसमें वस्तु वर्णित हो उसे लाटी रीति कहते हैं—

उदाहरण—**अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना—**
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम्।
बिरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि॥

इस उदाहरण के पद्य का प्रथम चरण कोमलकान्त पदावली में है जहाँ 'ञ्ज'—'न्द्व'—'न्द' आदि माधुर्य व्यंजक वर्ण हैं, जो वैदर्भी रीति में प्रयुक्त होते हैं। अन्य चरणों की रचना समस्त तथा वर्ण ओज गुण व्यंजक—द्र, क्र, म्र, ह-भ आदि हैं जो पाञ्चाली रीति के पोषक हैं। इन रीतियों के लक्षणों से समन्वित यह उदाहरण लाटी रीति का है।

अर्थ—इस पद में सूर्योदय का वर्णन है—"पद्मनियों की मौन-मुद्रा का भंजक अर्थात् कमलिनियों को विकसित करने वाला, उदयाचल की वनपंक्ति में स्थित मन्दार का नया पुष्प और विरह से पीड़ित चक्रवाक युगल का मित्र (रात्रि में वियुक्त चक्रवाक युगल का मिलन कराने वाला) क्रोध में भरे बन्दर के कपोल के समान (रक्त वर्ण) यह सूर्य अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ उदित हो रहा है।"

————

दशम परिच्छेद

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

आचार्य विश्वनाथ गुण और रीति का निरूपण करने के अनन्तर अलंकार के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—काव्य में अलंकार वह है जो काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं—जिस प्रकार अंगदादि [केयूर] आभूषण शरीर के लिए शोभा अतिशत के जनक होते हुए भी आत्मा का उत्कर्ष वर्धन करते हैं, उसी प्रकार उपमादि काव्य के अलंकार काव्य-शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हुए काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं। किन्तु यह रस और भाव के सहायक होते हुए भी शब्दार्थ के अस्थिर धर्म होते हैं।

आशय यह है कि जैसे अंगद आदि शरीर की शोभा बढ़ाते हुए शरीर में रहने वाले व्यक्तित्व की भी शोभावृद्धि में सहायक होते हैं वैसे ही अनुप्रास-उपमा आदि शब्द और अर्थ की शोभा वर्धन करते हुए रस भाव का भी उपकार करते हैं। अलंकार अस्थिर धर्म है इसका भाव यह है कि गुण की भाँति काव्य में इसकी अनिवार्य स्थिति अपेक्षित नहीं है।

अलंकार वादी आचार्यों को छोड़कर प्रायः सभी आचार्य—विशेषतः ध्वनि वादी आचार्य अलंकारों को शब्दार्थ का अनित्य धर्म स्वीकार करते हैं जैसे कि कुण्डलादि शरीर के अनित्य धर्म हैं—

अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् ।

—ध्वन्यालोक

मम्मट ने भी लिखा है कि—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

—काव्य प्रकाश ८/६७

अर्थात्—अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं, जो अंगभूत शब्द और अर्थ के द्वारा अंगी (रस) का उपकार करते हैं।

प्रमुख अलंकारों के लक्षण, उदाहरण आदि का अनुवाद सहित अध्ययन करने के लिए पृष्ठ संख्या १८६ से २१० तक का विशेष रूप से अध्ययन करें।

———

कम्पोज : आगरा फाइन आर्ट कम्पोजिंग एजेंसी, ११० पुरानी अनारकली, दिल्ली-५१
मुद्रक : प्रगति प्रिंटिंग प्रेस, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२